

भाषण और संभाषण की दिव्य क्षमता



- पं० श्रीराम शर्मा आचार्य

भाषण और संभाषण की दित्य क्षमता

लेखन-संपादन
ब्रह्मवर्चस



प्रकाशक :

युग निर्माण योजना विस्तार ट्रस्ट

गायत्री तपोभूमि, मथुरा

फोन : (०५६५) २५३०१२८, २५३०३९९

मो. ०९९२७०८६२८७, ०९९२७०८६२८९

फैक्स नं०- २५३०२००

पुनरावृत्ति सन् २०१४ मूल्य : ४०.०० रुपये

प्रकाशक :

**युग निर्माण योजना विस्तार ट्रस्ट
गायत्री तपोभूमि, मथुरा-२८१००३**

लेखक-सम्पादक

ब्रह्मवर्चस

मुद्रक :

**युग निर्माण योजना प्रेस,
गायत्री तपोभूमि, मथुरा-२८१००३**

“युग अवतरण की वेला में उस वाक् शक्ति का युगशक्ति के रूप में प्रयोग होना है, जो हिमालय जैसे व्यक्तित्व के मुख गोमुख द्वारा भगवती भागीरथी की तरह प्रकट होती है और संपर्क क्षेत्रों को पवित्रता एवं प्रखरता से भरती चली जाती है। ऐसी वाणी मात्र चमड़े की जीभ हिलने भर से प्रादुर्भूत नहीं होती, वरन् उसका मूल उद्गम किसी गहन अंतराल से निःसृत होता है। गंगा प्रकट तो गोमुख-गंगोत्री से होती है, पर उसका मूल स्रोत उस कैलाश-मानसरोवर में है, जिसे सुमेरु या शिव निवास कहते हैं। शंकर की जटाओं से भागीरथी निःसृत होती है, उसका तात्पर्य गरिमामयी वाणी के संदर्भ में मनुष्य के अंतःकरण को कहा जा सकता है, जिसे व्यवहार की भाषा में व्यक्तित्व का मर्म संस्थान कहते हैं। इस क्षेत्र का जैसा स्तर होगा, वाणी का प्रभाव भी तदनुकूल ही दृष्टिगोचर होगा, भले ही वह शब्द गुंथन की दृष्टि उतनी परिष्कृत न हो।”

- पं० श्रीराम शर्मा आचार्य

परम पूज्य गुरुदेव वेदमूर्ति, तपोनिष्ठ, युगऋषि पं० श्रीराम शर्मा आचार्य जी ने इस युग की समस्याओं के समाधान तथा नवयुग सृजन का संकल्प साकार करने के लिए 'विचार क्रान्ति' का शंखनाद किया। उन्होंने बतलाया कि मनुष्य की हर क्रिया के पीछे एक जीवन्त विचार सक्रिय होता है। सामाजिक जीवन में कोई भी परिवर्तन करना हो, क्रान्ति करनी हो, तो उसके अनुरूप विचार परिवर्तन या विचार क्रान्ति अनिवार्य है। विषम परिस्थितियों के समाधान तथा श्रेष्ठ परिस्थितियों के निर्माण के लिए उन्होंने प्रचण्ड तप साधना करके अत्यन्त तेजस्वी, युगानुकूल विचार सम्पदा प्रदान की। इसके लिए उन्होंने जीवन की हर दिशा में मार्गदर्शन देने वाला साहित्य, हजारों छोटी-बड़ी पुस्तकों के रूप में प्रस्तुत किया तथा उसके विस्तार के लिए ज्ञानयज्ञ की योजना भी चलाई।

साहित्य का लाभ जन-जन तक पहुँचाने में देश की निरक्षरता बाधक बनती है। साक्षरता विस्तार के लिए प्रबल प्रयास तो किए जाने हैं, लेकिन तब तक समस्याओं के समाधान के प्रयासों को रोका भी तो नहीं जा सकता। इसलिए साहित्य के साथ वाणी की सक्षमता का उपयोग भी व्यापक स्तर पर करने की कार्य योजना तैयार की गई। प्राचीन काल

में संत समाज वाणी द्वारा ही जनमानस को दिशा एवं प्रेरणा देने का कार्य बड़ी सफलता के साथ करता रहा है। इसी श्रेष्ठ परम्परा को लक्ष्य करके युग निर्माण अभियान से जुड़े नैष्ठिकों की भाषण-संभाषण की सार्थक एवं प्रभावपूर्ण क्षमता का विकास करने के लिए यह पुस्तक तैयार की गई है।

आज भाषण के कलाकारों की कमी नहीं है, लेकिन उनके कथन का जनजीवन पर प्रभाव होता नहीं दीखता। जिस अभियान के अंतर्गत यह पुस्तक लिखी गई है, उसका मुख्य उद्देश्य जनजीवन में वाँछित परिवर्तन लाना है। इसलिए इसकी विषयवस्तु को केवल भाषण कला तक ही सीमित नहीं रहने दिया गया है। वाणी की कला के साथ वाणी की शक्ति के विकास के मर्म और अभ्यास सूत्र भी उभारे गये हैं। इस पुस्तक के निर्देशों का अनुगमन करके कोई भी संकल्पशील व्यक्ति जनजीवन को दिशा देने में समर्थ भाषण-संभाषण की दिव्य क्षमता विकसित कर सकता है। आशा की जाती है कि सुधी अध्येता केवल 'पाठक' न रहकर वाणी के 'साधक' की भूमिका में उतरकर आत्मोन्नति और जनकल्याण का दुहरा पुण्य अर्जित करने के लिए समर्थ वाक् शक्ति विकसित कर सकेंगे।

प्रकाशक

विषय-सूची

क्र०	विषय	पृ०सं०
१	व्यक्तित्व संपन्न वक्ता का प्रभावी प्रवचन	७
२	काया की सशक्त प्रयोगशाला और शब्द शक्ति की ऊर्जा	१६
३	वाणी की शक्ति एवं प्रखरता	२३
४	वाणी में सामर्थ्य का उद्भव	३१
५	भाषण कला का आरम्भ और अभ्यास	४५
६	वक्ता को अध्ययनशील होना चाहिए	६१
७	सरल भाषण की कसौटी	७९
८	भाषण और भावाभिव्यक्ति का समन्वय	९२
९	सभा मंच पर जाने से पूर्व इन बातों का ध्यान रखें	१०४
१०	भाषण का स्तर न गिरने दें	११६
११	आरम्भिक कठिनाई का समाधान आधी सफलता	१३५
१२	प्रगति इस प्रकार संभव होगी	१४५
१३	अभ्यास क्रम के लिए सुगम अवलम्बन	१५४
१४	श्रोताओं को नियमित रूप से उपलब्ध करने की सरल प्रक्रिया	१६५
१५	वक्ताओं को ही श्रोता भी जुटाने पड़ेंगे	१७४
१६	संभाषण के कुछ सारगर्भित सिद्धान्त	१८१
१७	मात्र भाषण ही नहीं, साथ में गायन भी	२०१

व्यक्तित्व सम्पन्न वक्ता का प्रभावी प्रवचन

युग संधि के प्रभात पर्व में विचारक्रान्ति की लाल मशाल ऊषा काल की लालिमा लेकर प्रकटी है। इस अवसर पर जन जागरण के आलोक वितरण की प्रमुखता रहेगी। लोकमानस के परिष्कार का लक्ष्य लेकर बहुमुखी रचनात्मक प्रवृत्तियाँ अग्रगामी बनेंगी। उनका मूलभूत आधार होगा, दूरदर्शी विवेकशीलता का अवलम्बन। मूढ़ मान्यताओं, कुरीतियों और अवांछनीयताओं का उन्मूलन आवश्यक है। साथ ही सत्प्रवृत्ति संवर्धन के लिए भी नये सिरे से प्राणवान् प्रयासों को गतिशील होना है। यही है युग अवतरण की वह दुहरी प्रक्रिया, जिसमें भगवान् के अधर्म उन्मूलन और धर्म संस्थापन के आश्वासन को चरितार्थ होने का अवसर मिलेगा। परिवर्तन का ठीक यही समय है। इस अवसर पर हर विचारशील के अन्तराल में अनौचित्य को निरस्त करने और औचित्य को अपनाने की प्रेरणा उभरेगी। यही है युगान्तरीय चेतना का वह स्वरूप, जिसे 'विचारक्रान्ति' या 'प्रज्ञा अभियान' के नाम से समझा-समझाया जाता रहा है।

शिक्षितों को पठन लाभ मिल सके, यह प्रयत्न भी प्रज्ञा अभियान के अन्तर्गत चलेगा ही, चल भी रहा है; किन्तु युगान्तरीय चेतना को व्यापक बनाने के लिए वाणी की शक्ति का उपयोग किये बिना काम चलने वाला है ही नहीं। जन-सम्पर्क में वार्तालाप ही आधार है। इसके लिए संभाषण की प्रवीणता आवश्यक है। अभिव्यक्तियों का आदान-प्रदान इसी माध्यम से सम्भव है। चिट्ठी-पत्री तो मात्र संकेत ही कर सकती हैं। वार्तालाप ही विस्तृत चर्चा विनिमय का एक मात्र अवलम्बन है। इस आवश्यकता की पूर्ति और किसी उपाय से संभव नहीं है।

जन समुदाय के सम्मुख विचारों का प्रकटीकरण भाषण कहलाता है। सीमित लोगों के साथ वार्तालाप को संभाषण कहते हैं। यह परिस्थिति भेद में अपनाई जाने वाली दो शैलियाँ भर हैं। दोनों में ही विचारों का आदान-प्रदान होता है। जीभ बोलती है, कान सुनते हैं। ईश्वर ने जन्मजात रूप से यही माध्यम विचारों के आदान-प्रदान के लिए बनाये हैं। लेखनी तो मनुष्य का अपना आविष्कार है। मस्तिष्क पर सीधा असर वाणी का ही होता है, क्योंकि उसके साथ वक्ता की प्राणशक्ति भी संबद्ध होती है; जबकि लेखनी से लिखे गये पत्रों को यथावत् पढ़ लेने पर भी उसके कल्पना चित्र वैसे नहीं बनते, जैसा कि लिखने वाला चाहता था। वाणी के साथ वक्ता की मुखाकृति के अनेक अवयव भावों को स्पष्ट करते हैं। आँख, दाँत, होंठ, कपोल, भौंहें; सभी बोलते हैं और वाणी जो प्रकट करना चाहती है, उसे ये अवयव मिल-जुलकर प्रकट कर देते हैं। वाणी की अपूर्णता भाव-मुद्रा से पूर्ण हो जाती है। अतएव उसकी शक्ति लेखनी की तुलना में कहीं अधिक मानी गयी है।

जनमानस को प्रशिक्षित, उत्तेजित, परिवर्तित, परिष्कृत करने में वाणी से बढ़कर और किसी का योगदान नहीं। विचारों का परिवहन वही करती है। प्रज्ञायुग अवतरण में वाणी की भागीरथी भूमिका होगी, यह कहने में तनिक भी अत्युक्ति नहीं। यों सामान्य लोक व्यवहार में भी वाणी को पुरुषार्थ की भाँति ही सफल प्रवीण घमत्कार उत्पन्न करते देखा गया है। कई बार तो पराक्रम से भी अधिक सुसंस्कृत-सुनियोजित वार्ता को पाया गया है। पराक्रम वस्तुओं की उलट-पलट करता है और घटनाएँ विनिर्मित करता है; किन्तु मनुष्य के भाव संस्थान में हलचल उत्पन्न करना, दिशा देना और कुछ से कुछ बना देना वाणी के लिए ही सम्भव है। संसार के

इतिहास में भारी उथल-पुथलें जिन कारणों से सम्पन्न हुई, उनमें वाणी की शक्ति और प्रतिक्रिया को मूर्धन्य कहा जा सकता है।

सामान्य जीवन में सफल और असफल रहने वाले व्यक्ति का अन्तर तलाश करने पर उनकी योग्यता, श्रमशीलता, सूझबूझ, शालीनता का स्तर भिन्न रहने की तरह ही एक बड़ा कारण यह भी होता है कि विचार व्यक्त न कर पाने वाले व्यक्ति संकोच, असमंजस में उलझे रहते हैं। जो कहना है, वह कह नहीं पाते। फलतः अपनी स्थिति प्रकट न कर पाने से वह सहयोग उपलब्ध नहीं कर पाते, जो करना चाहिए था। इसके विपरीत वाचाल और मुखरित लोग कई बार तो बात को इतनी रसीली, नशीली, भड़कीली बनाकर कहते हैं कि सामने वाले को उस शिंकजे में जकड़ते देर नहीं लगती, जिसमें कि वह सामान्यतया फस नहीं पाता। ठग, चापलूस, खुशामदखोर अपनी वाक्-चातुरी के सहारे ही वारे न्यारे करते रहते हैं, जबकि मितभाषी, संकोची आत्मीयजनों के बीच भी सद्भावना प्रकट करने में असफल रहते हैं। भ्रान्तियाँ पनपने का अवसर देते हैं और आशंका, अवहेलना के कुचक्र में फँस जाते हैं। सफल लोगों में से अधिकांश को वाक्पटु देखा जाता है।

यहाँ चर्चा युगसंधि की ऐतिहासिक वेला के प्रमुख कार्य 'लोकमानस के परिष्कार' की हो रही है। अवांछनीयताओं के प्रचलन को उलटने का नाम ही विचारक्रान्ति है। सत्प्रवृत्तियों के बीजारोपण और अभिवर्धन को ही प्रज्ञा अभियान कहा गया है। यह एक ही प्रयोजन के दो परस्पर पूरक पहलू हैं। उन्हें गतिशील बनाने के लिए जिस ऊर्जा की आवश्यकता है, वह तो प्राणवान् व्यक्तियों से ही उत्पन्न होगी, पर उसे हस्तांतरित करने में मुख्य भूमिका वाणी की ही होगी। जिन साधनों से अपने समय का 'धर्म-चक्र प्रवर्तन' होना है,

उसमें वाणी की शक्ति की प्रमुखता रहेगी। जनसमूह के सामने युगान्तरीय चेतना प्रकट करने और व्यक्तिगत परामर्श से दिशा परिवर्तन का दबाव डालने में वाणी का उपयोग किये बिना काम चलेगा ही नहीं। परिष्कृत वाणी को इन दिनों युगशक्ति के रूप में प्रयुक्त किया जाना है, इसलिए उसे प्रखर बनाने की आवश्यकता से इंकार नहीं किया जा सकता।

नवसृजन के मोर्चे पर जूझने वाले युग शिल्पियों को अपना यह शस्त्र पैना रखना चाहिए और उसके कारगर प्रयोग का अभ्यास मनोयोगपूर्वक करना चाहिए। यह विचार संघर्ष का युग है। इन दिनों दैत्य और देव की लड़ाई जिस धर्मक्षेत्र-कुरुक्षेत्र में लड़ी जा रही है, उसे विचारभूमि ही कह सकते हैं। इसी अखाड़े में सत, असत का मल्लयुद्ध होना है। उसमें विजयी बनने के लिए जहाँ तथ्यों का तुणीर भरा रहना चाहिए, वहाँ अभिव्यक्ति को मुखर कर सकने में समर्थ गाण्डीव की प्रत्यंचा भी कसी रहनी चाहिए। हमें विचारशील, प्रज्ञावान् भी होना चाहिए; साथ ही यह नहीं भूलना चाहिए कि सही स्थान पर सही चोट पहुँचाने में समर्थ वाणी में प्रखरता रखनी चाहिए। सामयिक उत्तरदायित्वों के परिवहन में प्रभावशाली वाक्शक्ति का अर्जन प्रत्येक युगशिल्पी के लिए इन दिनों अनिवार्य रूप से आवश्यक है।

इतना समझ लेने के उपरान्त इस संदर्भ में इतना और जानना चाहिए कि वाचालता और वाक् सरस्वती दो भिन्न वस्तुएँ हैं। वाचालता एक कला है और अन्य कुशलताओं की तरह थोड़े से अभ्यास से सीखी-सिखाई जा सकती है। साइकिल चलाना अजनबी के लिए आश्चर्यजनक है। एक इंच मोटे अस्थिर पहिए पर इतना वजन लेकर बिना डगमगाये किस प्रकार तेजी से दौड़ते हैं, उसे देखकर कोई

अनजान चकित हुए बिना नहीं रहेगा, किन्तु अभ्यस्तों को विदित रहता है कि यह कितना सरल है। ठीक इसी प्रकार जीभ को चलाना भी सरल है। इसे सीखने में साइकिल चलाना सीखने से भी कम श्रम लगता है। संकोच के जाल से छूटते ही वह मछली की तरह तैरती, मेढ़कों की तरह फुदकती और चिड़ियों की तरह चहकती देखी जा सकती है। बकवादी लोगों के मुँह पर लगाम लगाना कठिन पड़ता है। वे अकारण कुछ न कुछ बक-झक करते ही रहते हैं। कई बार तो उनसे पीछा छुड़ाना कठिन हो जाता है। सुनने वाला ऊबने लगता है, पर कहने वाला थकता ही नहीं। इसमें न किसी योजना की आवश्यकता है, न निर्धारण की, न अवसर की, न कारण की। वह चली तो फिर बरसाती नदी की तरह बेतहाशा दौड़ती ही चली जाती है। यहाँ न तो ऐसी वाचालता की प्रशंसा की जा रही है, न उसे कला ठहराया जा रहा है, न उसके प्रशिक्षण-अभ्यास पर जोर दिया जा रहा है। ऐसी उच्छृंखलता की तो भर्त्सना ही की जानी चाहिए, जो वक्ता की शक्ति का अपव्यय करती है और श्रोता का समय एवं दिमाग खराब करके रख देती है।

युग अवतरण की वेला में उस वाक्शक्ति का युगशक्ति के रूप में प्रयोग होना है, जो हिमालय जैसे व्यक्तित्व के मुख गोमुख द्वारा भगवती भागीरथी की तरह प्रकट होती है और सम्पर्क क्षेत्रों को पवित्रता एवं प्रखरता से भरती चली जाती है। ऐसी वाणी मात्र चमड़े की जीभ हिलने भर से प्रादुर्भूत नहीं होती, वरन् उसका मूल उद्गम किसी गहन अन्तराल से निःसृत होता है। गंगा प्रकट तो गोमुख-गंगोत्री से हीती है, पर उसका मूल स्रोत उस कैलाश-मानसरोवर में है, जिसे सुमेरु या शिव निवास कहते हैं। शंकर की जटाओं से भागीरथी निःसृत होती है, उसका तात्पर्य गरिमामयी वाणी के संदर्भ

में मनुष्य के अन्तःकरण को कहा जा सकता है, जिसे व्यवहार की भाषा में व्यक्तित्व का मर्म संस्थान कहते हैं। इस क्षेत्र का जैसा स्तर होगा, वाणी का प्रभाव भी तदनुकूल ही दृष्टिगोचर होगा, भले ही वह शब्द गुंथन की दृष्टि से उतनी परिष्कृत न हो।

इस संदर्भ में कुछ महत्त्वपूर्ण तथ्य वाणी विज्ञान में रुचि रखने वाले प्रत्येक विज्ञान को जानने चाहिए।

वाणी के चार स्तर हैं—१. बैखरी, २. मध्यमा, ३. परा, ४. पश्यन्ति। बैखरी जिह्वा से निकलती है और आमतौर से जानकारी देने के क्राम आती है। अध्यापक इसी के द्वारा छात्रों को विभिन्न विषय पढ़ाते हैं। दिन भर हाट-बाजारों में इसी का प्रयोग होता है। गप्पबाजी, चुगलबाजी से लेकर तरह-तरह के भले-बुरे प्रसंगों में सकारण-अकारण इसी का प्रयोग होता रहता है। यह जीभ से निकलती है और मन को हल्का करने अथवा स्वार्थों का तालमेल बिठाने में काम आती है।

दूसरी मध्यमा वाणी है, जो चेहरे के प्रमुख अवयवों से फूटती है। आँखें, भौंहें, नथुने, कपोल, होंठ, गर्दन की हलचल से भावनाओं का प्रकटीकरण होता है। वाणी के साथ इनकी भी गतिविधियाँ जुड़ती हैं और जो कहा जा रहा है, उसमें वक्ता का अन्तराल किस सीमा तक किस स्तर पर संबद्ध है, इसका परिचय देती है। हो सकता है शब्द कुछ कह रहे हों और अन्तर में उसकी भिन्न प्रकार की स्थिति हो, यह मध्यमा से जाना जा सकता है। इसे एक प्रकार से अन्तराल का दर्पण कह सकते हैं। यह बिना शब्दोच्चार के भी हाव-भावों द्वारा व्यक्तित्व का स्तर एवं मनःस्थिति का प्रकटीकरण करती रहती है। यदि प्रकृति किसी स्वभाव विशेष में परिपक्व हो गयी है, तो चेहरा उसी ढाँचे में ढल जाता है और देखते

ही पता चल जाता है कि व्यक्ति का स्वभाव एवं स्तर क्या होना चाहिए। अनुभवी लोग आकृति देखकर मनुष्य में बहुत कुछ पढ़ लेते हैं और फिर तदनुरूप ही उसके साथ तालमेल बिठाते हैं। तीर्थ पुरोहित, शौकीनी का सामान बेचने वाले सेल्समेन इस सम्बन्ध में निपुण होते हैं। वे काम के और बेकाम के ग्राहक को शकल देखते ही पहिचान लेते हैं और तदनुरूप ही उनसे व्यवहार करते हैं।

तीसरी वाणी वह, जो विचारधारा से सम्बन्धित है। जिन विचारों का जीवन पर प्रभाव होता है, जो विश्वास स्तर तक पहुँच चुके होते हैं, जिनके प्रति रुझान और पक्षपात होता है, वे स्वभाव के अंग बन जाते हैं और कार्य रूप में परिणित होते रहते हैं। परावाणी मस्तिष्कीय विचार कम्पनों के रूप में होती है। यह कम्पन विद्युत् प्रवाह की तरह आकाश में भी भ्रमण करने के लिए निकल पड़ते हैं और सबसे प्रथम सम्पर्क क्षेत्र को प्रभावित करते हैं। इसे मस्तिष्क बोलते और मस्तिष्क ही सुनते हैं।

चौथी पश्यन्ती वाणी आत्मा से निकलती है और दूसरी आत्मा के साथ टकराती है; बल के अनुरूप हारती या जीतती है। यह मनुष्य के अन्तःक्षेत्र में अवस्थित श्रद्धा, आस्था, आकांक्षा से सम्बन्धित है और समूचे व्यक्तित्व को अपने परिकर में लपेटे रहती है, इसमें प्राण भरा रहता है। समीपवर्ती लोगों को अपने अनुरूप बनाने का आग्रह करती है। यह दुर्बल होने पर निष्फल भी रह सकती है; पर यदि समर्थ हुई, तो दबंगों को भी अपने चंगुल में जकड़ लेती है। ऋषि आश्रमों में जाकर सिंह भी अहिंसक हो जाते थे और गाय के साथ एक-घाट पर पानी पीते थे। यह पश्यन्ती वाणी का चमत्कार है। कुसंग और सत्संग से पड़ने वाले प्रभाव को इसी क्षेत्र की परिणति कहना चाहिए।

वक्ताओं में से जिन्हें जानकारी भर देनी है, उनके लिए स्कूली ढंग से अपने मन्तव्य को उपस्थित लोगों पर वाणी के माध्यम से प्रकट कर देना पर्याप्त है। इसके लिए वाचालता में कलात्मक पुट रहे, तो उसकी सरसता बढ़ेगी। लोग पसन्द करेंगे और सहमत न होते हुए भी प्रशंसा तो करेंगे ही। इतने मात्र से लोकमानस का परिष्कार नहीं हो सकता। सुधारक को बिगड़े हुए से अच्छा होना चाहिए। शिक्षा, चिकित्सा, कला, कौशल आदि में ऐसा ही होता है। वरिष्ठ सिखाते और कनिष्ठ सीखते हैं। युगसृजन की समूची प्रक्रिया दृष्टिकोण एवं व्यवहार को सुधारने की है। अस्तु, शिक्षक का व्यक्तित्व इन दोनों ही क्षेत्रों में उनसे अधिक ऊँचा होना चाहिए, जिनसे सुधारने, बदलने एवं सहमत होने की आशा-अपेक्षा की गई है। अस्तु, आवश्यक है कि भावनात्मक परिष्कार की शिक्षा देने वाला पुरोहित श्रवणकर्त्ता यजमानों की तुलना में वरिष्ठ हो। तभी उसकी मध्यमा, परा और पश्यन्ती वाणियाँ मुखर होंगी और उनके दबाव से दृष्टिकोण एवं व्यवहार में आदर्शवादी परिवर्तन सम्भव हो सकेगा।

प्रवचन के समय वक्ता को ऊँचे मंच पर बिठाया जाता है। वह समान ऊँचाई पर श्रवणकर्त्ताओं की पंक्ति में बैठे, तो उसकी वाणी, भाव-भंगिमा ठीक प्रकार दृष्टिगोचर न होंगी और चेहरा देखने की इच्छा पूरी न होने पर दर्शक निराश ही रहेंगे। व्यासपीठ का धर्म मंच श्रद्धा-सम्मान भरा पद एवं स्तर है। उस पर जो बैठें, वे कथनोपकथन में ही प्रवीण नहीं होने चाहिए, वरन् जन समुदाय की तुलना में उनकी श्रद्धा, प्रज्ञा, निष्ठा कहीं अधिक ऊँची होनी चाहिए। उनके गुण, कर्म, स्वभाव में सज्जनोचित शालीनता की कहीं अधिक मात्रा समन्वित रहनी चाहिए। हर क्षेत्र में वरिष्ठों की कुछ पहचानें हैं। अध्यात्म क्षेत्र में विद्वत्ता, सम्पन्नता, कलाकारिता का नहीं, चिन्तन

और चरित्र की दृष्टि से कहीं अधिक ऊँचे आगे होना चाहिए। जो इस दृष्टि से जितने अधिक मूर्धन्य होंगे, उनका प्रमाणिक, परिष्कृत व्यक्तित्व अपनी सुसंस्कारिता की छाप उसी अनुपात से श्रवणकर्त्ताओं पर छोड़ेगा। मन में कुछ, वचन में कुछ न हों। कथनी आदर्शवादी और करनी प्रतिगामी हो, तो उस विडम्बना से कौतुहल भर बनेगा। सुधार, परिवर्तन कर सकने वाला प्रभाव उभरेगा ही नहीं। ऐसी दशा में प्रवचन कला-कौशल मात्र बनकर रह जायेगी।

मनोरंजन की बात दूसरी है और जनता को प्रभावित, परिवर्तित कर सकने की क्षमता दूसरी। अपनी आवश्यकता लोगों की भीड़ जमा करके प्रदर्शन या ठाट-बाट खड़ा करने की नहीं है। उसमें जन-जन को 'हम बदलेंगे-युग बदलेगा' के उद्घोष की जीवनचर्या में उतार सकने वाले वक्ता ही अपनी कथनी और करनी की एकात्मता के सहारे इतने समर्थ हो सकेंगे कि युग प्रतिपादनों को अपनाने के लिए चुनौती मिलने पर ध्रुव निश्चय के धनी एवं व्रतशीलता के निर्वाह में संकल्पवान् साहसी सिद्ध हो सकें। धर्म प्रवचनों के लिए बनाई गई वेदी को विशुद्ध रूप से व्यासपीठ माना जाना चाहिए और वहाँ बैठने वाले को न केवल भाषण कुशल होना चाहिए, वरन् गुण, कर्म, स्वभाव की दृष्टि से भी सामान्य लोगों की तुलना में कहीं अधिक समुन्नत, सुसंस्कृत होना चाहिए। जो इस दिशा में गतिशील रहेंगे, उनकी मध्यमा, परा और पश्यन्ती वाणी भी प्रखर होगी। जो उसे सुनेंगे, प्रभावित होकर रहेंगे। इस प्रभाव की परिणति आदर्शवादी गतिविधियाँ अपनाने में दृष्टिगोचर होगी। यही उद्देश्य प्रज्ञा आयोजन कर्त्ताओं का होता है। धर्मक्षेत्र के प्रवक्ताओं को अपना व्यक्तित्व आदर्शवादी ढाँचे में ढालने के उपरान्त ही अपनी प्रचार क्षमता को प्रभावी सिद्ध होने की आशा करनी चाहिए।



काया की सशक्त प्रयोगशाला और शब्द शक्ति की ऊर्जा

मानवी काया का स्थूल रूप उतना ही है जो खाने, पीने, सोने के काम आता है; जो रोने-हँसने और मरने-जीने के गतिचक्र में बँधा हुआ अपना समय व्यतीत करता है। मस्तिष्क का मन और बुद्धि वाला भाग इस गाड़ी को धकेलता रहता है। कल पुर्जे अन्न-जल का ईंधन पाकर गतिशील बने और निर्वाह-विनोद के साधन जुटाने में लगे रहते हैं। इससे आगे की गहराई वहाँ से प्रारम्भ होती है, जहाँ 'चित्त' (अचेतन मन) और अहंकार अन्तःकरण (सुपर चेतन) का क्षेत्र आरंभ होता है। यह मनःक्षेत्र की बात हुई। काय क्षेत्र में षट्चक्र, ग्रन्थि त्रय, नाड़ी त्रय, चतुर्विंशत् उपत्यिकाएँ, पंचकोश, कुण्डलिनी, सहस्रार के रहस्यमय शक्ति भण्डारों की साज-सज्जा है।

यह समूचा क्षेत्र सामान्यतः निष्क्रिय पड़ा रहता है। न मनःक्षेत्र की अचेतन, सुपर चेतन क्षमताएँ काम आती हैं और न षट्चक्र, पंचकोश आदि से कोई वास्ता पड़ता है। अप्रकट अस्तित्व को ही रहस्य कहते हैं। इसलिए मनःक्षेत्र और कार्यक्षेत्र की इन सर्व साधारण की पहुँच से बाहर की अविज्ञात विशिष्टताओं को भी रहस्य लोक-दिव्य लोक कहा जाता है। इसे ही प्राचीन काल में शोध प्रयत्नों के लिए प्रयुक्त किया जाता था। खर्चीले, कष्ट साध्य और आये दिन ईंधन मरम्मत माँगने वाले वैज्ञानिक यंत्रों का निर्माण करने की अपेक्षा यह अच्छा समझा गया कि ईश्वर प्रदत्त सर्वांगपूर्ण काया में ही जब प्रकृति लोक ही नहीं, ब्रह्मलोक को भी खोजने-खींचने, घसीटने की क्षमताएँ विद्यमान हैं, तो बाहर क्यों भटका जाय? कस्तूरी हिरण की तरह क्यों उपहासास्पद बना जाय?

ऋषियों का समग्र प्रयास एक ही रहा है कि काय कलेवर को

एक सर्वांगपूर्ण, समग्र, सुन्दर, सहज उपलब्ध प्रयोगशाला माना जाय। साथ ही उसी क्षेत्र में सन्निहित स्रष्टा के उत्तराधिकार में उपलब्ध अनन्त ऋद्धि-सिद्धियों को बीज रूप में ही पड़े रहने देखकर उन्हें उगाने और विशाल वृक्ष में परिणत करने का प्रयास किया जाय। इस प्रयास को योग एवं तप की संज्ञा दी गई है। उसमें किसी अन्यत्र रहने वाले देवी-देवता की मनुहार नहीं है, वरन् आत्मदेव के अंग-उपांगों का ही न्यास, उपचार करने का विधान है। वृक्ष को खुराक आसमान से नहीं, जड़ों से मिलती है। मानवी सत्ता का चरम विकास उसके अन्तःक्षेत्र को उभारने से ही सम्भव होता है। आकाश के देवताओं को किसी की मनुहार सुनने और निहाल करने के लिए उपहार का टोकरा लिए-लिए फिरने की फुरसत कहाँ है?

पेट भरने के लिए अपना ही मुँह चलाना पड़ता है। पढ़ने के लिए अपनी ही बुद्धि लड़ानी पड़ती है। दूसरे के मुँह से किसने पेट भरा है? दूसरों की बुद्धि का सहारा लेकर कौन विद्वान् बना है। आत्मिक प्रगति की आकांक्षा भी अपने ही साधनात्मक पुरुषार्थ से पूरी होती है। उसमें बेचारे देवताओं का अनुग्रह ही एक सीमा तक पात्रता के अनुरूप हो सकता है। बात पात्रता पर आई, तो उसे भी पुरुषार्थ ही कहा जाएगा। आत्म-क्षेत्र के गहन मंथन को ही साधना, उपासना आदि नामों से सम्बोधित किया जाता है।

प्राचीनकाल में अनेकों दिव्य अस्त्र-शस्त्रों का प्रयोग होता था। तंत्र शास्त्र में प्रायः इसी प्रकार के उपचारों की भरमार है। उसी क्षेत्र में ऐसी उपलब्धियों की भरमार थी, जो क्षमताओं, सुविधाओं और सफलताओं के भण्डार सामने ला खड़ी करती थी। इस प्रकार के उपायों को योग-तप कहा जाता था। उनके द्वारा भौतिक क्षेत्र में ऋद्धियों-सिद्धियों को हस्तगत किया जाता था। साथ ही अन्तःक्षेत्र

को आनन्द-उल्लास से भरे रहने वाले स्वर्ग-मोक्ष का लाभ मिलता था। यह समूचा उपार्जन अन्तःक्षेत्र का है। विशाल ब्रह्माण्ड में जो कुछ है, वह अपने कायपिण्ड में बीज रूप में विद्यमान है। उसमें से जो उपयोगी हो, उसे उभारने का पुरुषार्थ करना ही आत्म-साधना का उद्देश्य है। जहाँ तथ्यों का ध्यान रखते हुए, विद्या को निष्ठापूर्वक अपनाते हुए प्रयास चले हैं, वहाँ अभीष्ट सफलता भी मिली है। ऋषि युग का इतिहास इसका साक्षी है।

कायिक और मानसिक क्षेत्र की संरचना एक सर्वांगपूर्ण यंत्र उपकरणों से भरी पूरी प्रयोगशाला के समान है। उसे अभीष्ट उत्पादन में समर्थ फैक्ट्री भी कहा जा सकता है। इस तथ्य से अवगत होने के उपरान्त दूसरा प्रश्न उत्पन्न होता है कि इस कारखाने को चलाने के लिए ऊर्जा कहाँ से मिले? ईंधन कहाँ से जुटे। बिजली, भाप, ताप आदि का कोई स्रोत-साधन तो होना ही चाहिए, अन्यथा बहुमूल्य मशीनें भी तनिक-सी हलचल नहीं कर सकतीं। उपकरणों को ऊर्जा ही तो चलाती है। इस ऊर्जा के लिए भी कहीं बाहर जाने की आवश्यकता नहीं है। वह भी प्रचुर परिमाण में उसी समय समर्थ स्रष्टा ने हस्तान्तरित कर दी है, जो इतना बहुमूल्य शरीर क्षेत्र रूपी बहुमूल्य अनुदान मनुष्य को दिया गया।

यह ऊर्जा-ईंधन क्या है? इसका संक्षिप्त किन्तु समग्र उत्तर है "शब्द शक्ति" काया से जो शब्द निकलते हैं, सामान्यतः वे विचारों के आदान-प्रदान में काम आते हैं। यही उसका मोटा काम चलाऊ उपयोग है। इससे ऊँचे स्तर की शब्द शक्ति वह है, जो जीभ से नहीं मुखाकृति, मस्तिष्क एवं अन्तःकरण से निकलती है। इन्हें मध्यमा, परा और पश्यन्ति कहते हैं। इनके सम्बन्ध में पिछले पृष्ठों पर तनिक-सा प्रकाश डाला गया है। वार्तालाप, परामर्श में प्रयुक्त तो बैखरी

वाणी ही होती है; पर उसकी नगण्य-सी क्षमता में समर्थता, प्रखरता तब उत्पन्न होती है, जब मध्यमा, परा, पश्यन्ती का भी उच्चारण के साथ ही समन्वय-समावेश होता रहे। भाषण एवं संभाषण की सफलता का उल्लेख करते हुए पिछले पृष्ठों पर यही बताया गया है कि व्यक्ति और समाज में उच्चस्तरीय परिवर्तन लाने के लिए शब्द शक्ति के उपयोग की अनिवार्य आवश्यकता पड़ेगी। पर उस उद्देश्य की पूर्ति के लिए वाचालता भर से काम न चलेगा। उसके लिए परिष्कृत वाणी चाहिए। उसके लिए समूचे व्यक्तित्व के हर पक्ष को उत्कृष्टता से अनुप्राणित किया जाना चाहिए। यदि वक्तृता का आनन्द लेना हो, उसे चमत्कारी सफलता प्रस्तुत करने में समर्थ देखना हो, तो फिर जिह्वा तक सीमित न रहकर अन्य तीन रहस्यमयी वाणियों को मुखर करने के लिए साधनात्मक अभ्यास की आवश्यकता समझनी चाहिए। वाणी की कला भी अपने स्थान पर उपयोगी है; पर लोकमानस की दिशाधारा निकृष्टता से उलटकर उत्कृष्टता की ओर मोड़ना हो, तो उसके लिए उच्चस्तरीय शब्द शक्ति चाहिए और उसके लिए भाषण कला सीखने तक सीमित न रहकर यह भी अनुभव करना चाहिए कि मात्र कंठ ही न बोले, वक्ता का समूचा व्यक्तित्व ही प्रवचन मंच पर मुखर हो उठे। सुनने वालों के कर्ण छिद्रों में रस टपका देने का काम तो विदूषक, गायक, नर्तक भी कर लेते हैं; पर उतने भर से असंख्यों के जीवन क्रम उलट जाने की आशा कहाँ बँधती है? वक्ता की वाणी ऐसी होनी चाहिए जैसी नारद की थी। बुद्ध और गाँधी भी उसी श्रेणी में आते हैं। गुरु गोविन्द सिंह, समर्थ गुरु रामदास, विवेकानन्द, दयानन्द आदि भी ऐसी ही वाणी बोलते थे, जो सुनने वालों को मथ डालती थी। उन्हें गेंद की तरह कहीं से कहीं उछाल देती थी।

शब्द शक्ति के बारे में अधिक गम्भीरता के साथ सोचना चाहिए। उस प्रतिपादन पर ध्यान देना चाहिए, जिसमें 'शब्द और नाद ब्रह्म' की महिमा शास्त्रकारों ने अनंत रूपों में और गंभीरता के साथ प्रस्तुत की है। शब्द ब्रह्म अर्थात् गद्य उच्चारण, नाद ब्रह्म अर्थात् ताल स्वर पर आश्रित गीत-वाद्य, इसके सूक्ष्म उपचार भी हैं। मंत्र विज्ञान को इसी क्षेत्र की महान् उपलब्धि कहा जा सकता है। मंत्र में शब्द गुंथन की विशेषता भी एक तथ्य है, पर उससे भी कहीं अधिक विशिष्टता मांत्रिक की निजी जीवनचर्या के साथ जुड़ी रहती है। मंत्र शक्ति में वाणी का उच्चारण विधान ही पर्याप्त नहीं माना जाता। इसकी प्राण-प्रतिष्ठा उस साधना द्वारा होती है, जिसमें मंत्र को सिद्ध करने के लिए भाव-भरे पुरश्चरण किये जाते हैं। इस प्रक्रिया का तात्त्विक स्वरूप इतना ही है कि मांत्रिक को, साधक को अपनी जीवनचर्या में उत्कृष्टता का सघन समावेश करना चाहिए। उसे ऋषिकल्प होना चाहिए। यहाँ दशरथ की पुत्र प्राप्ति अभिलाषा को पूर्ण करने के लिए किए गए पुत्रेष्टि यज्ञ का स्मरण करना चाहिए, जिसमें वसिष्ठ ने राज्य धान्य खाने के कारण मंत्र शक्ति उत्पन्न करने में अपनी असमर्थता व्यक्त की थी। वाणी की प्रखरता वाले शृंगी ऋषि उस कार्य के लिए बुलाये गये थे, तब प्रयोजन पूर्ण हुआ था। मंत्र का रहस्य, साधक की जीवन साधना के साथ अविच्छिन्न रूप से जुड़ा हुआ है।

सामान्य लोग जीभ चलाते और बकवास करते रहते हैं। वरिष्ठ व्यक्ति सारगर्भित, आदर्शों का पक्षधर, जीवन में प्रयुक्त-अनुभूत, श्रद्धा-विश्वास से भरा-पूरा शब्दोच्चार करते हैं। वस्तुतः यह मंत्र प्रयोग ही होता है। मंत्र विचार को ही कहते हैं। तपःपूत उच्चारण को मंत्र कहा जाता है। यह जप अनुष्ठान में, शाप-वरदान में भी काम

आते हैं; पर सामान्यतया उन्हें भाषण के रूप में भी प्रयुक्त किया जा सकता है। मंत्र प्रवचन ही उस आवश्यकता को पूर्ण करेंगे, जिसको युगसंधि की वेला में जनमानस को उलटने के लिए आवश्यक माना और आमंत्रित किया गया है।

शब्द शक्ति का यह सामयिक उपयोग हुआ, मूल प्रसंग इससे आगे का है। नवयुग के लिए नये सिरे से नये निर्माण और नये निर्धारणों की आवश्यकता पड़ेगी। इसके लिए शक्ति की आवश्यकता पड़ेगी और साधनों की भी। यह सब उच्चस्तरीय होना चाहिए। परिवर्तन भावना क्षेत्र का होना है। लोकमान्यताओं में घुसी हुई अवांछनीयता को उलटकर उस क्षेत्र में औचित्य की नये सिरे से प्राण-प्रतिष्ठा होनी है, ऐसी दशा में उसके उपयुक्त साधन-सामग्री ही खोजनी होगी। वह भी ऐसी, जिसके लिए जहाँ-तहाँ हाथ पसारते न फिरना पड़े। हमें अपना ही काय-कलेवर एक सर्वांगपूर्ण प्रयोगशाला की तरह प्रयुक्त करने के लिए परिष्कृत स्तर का बनाना पड़ेगा। परिष्कृत अर्थात् पवित्र, प्रखर। उसके लिए संयम, साधना और परमार्थ परायणता के दोनों ही प्रयोग साथ-साथ चलने चाहिए। इस अवलम्बन के बिना आत्मसत्ता इस योग्य नहीं बनती कि वह उच्चस्तरीय शक्तियों का अवतरण एवं अवधारण सहन कर सके।

जीवन साधना से अपनी काया एक उच्च स्तरीय यंत्र उपकरणों से भरी प्रयोगशाला का काम देने लगती है। ऊर्जा की आवश्यकता शब्द शक्ति से पूरी होगी। उच्चारण को मंत्र स्तर तक पहुँचना पड़ेगा। परिष्कृत जीवन अर्थात् गाण्डीव। मंत्र अर्थात् शब्दभेदी बाण। हमें अर्जुन की तरह इन सभी उपकरणों के प्रयोग का अभ्यास करने और प्रवीण होने के लिए कटिबद्ध, अग्रसर होना चाहिए।

वक्तृता का प्रस्तुत प्रशिक्षण दो प्रयोजनों से है-- एक तो सामाजिक विचार क्रान्ति की आवश्यकता पूरी करने के लिए प्राणवान् वक्ता चाहिए, जो अपनी प्रखरता से सम्पर्क-समुदाय को भाव-तरंगित करने एवं युग प्रवाह में धकेलने में सफल हो सके। साथ ही इस अभ्यास का अगला प्रयोग उस शब्दशक्ति को उभारने के रूप में होगा, जिससे जाग्रत् आत्माओं को अपनी काया का उपयोग समर्थ प्रयोगशाला के रूप में करने का अवसर मिल सके। यह प्रयोगशाला हममें से हर किसी को स्रष्टा की अनुकम्पा से अनायास ही उपलब्ध है।



वाणी की शक्ति एवं प्रखरता

समर्थ गुरु रामदास का यह कथन सत्य है कि संसार भर में हमारे मित्र मौजूद हैं; किन्तु उन्हें प्राप्त करने की कुंजी जिह्वा के "कपाट" में बन्द है।

मनुष्य की शिक्षा, सभ्यता, संस्कृति, बुद्धिमत्ता, चतुरता, विचारशीलता एवं दूरदर्शिता उसकी वाणी के माध्यम से ही दूसरों पर प्रकट होती रहती है। समाज में प्रतिष्ठा और प्रामाणिकता प्राप्त करने के लिए वाणी का परिष्कृत होना आवश्यक है। निन्दा करते रहने या कठिनाई के विरुद्ध खेद व्यक्त करने से कुछ काम न बनेगा। हमें रचनात्मक उपाय खोजने-पूछने पड़ेंगे, जो प्रधानतया सहयोग पर ही निर्भर हों। सहयोग उसी को मिलता है, जो मुँह खोलकर अपनी पात्रता सिद्ध कर सकता है।

बाइबिल में लिखा है—“जरा परखो तो कि न्याययुक्त शब्दों में कितनी शक्ति भरी पड़ी है।”

एमर्सन कहते थे—“भाषण एक शक्ति है। उसका प्रयोग अवांछनीयता से विलग करने और श्रेष्ठता की ओर बढ़ने का प्रोत्साहन देने के लिए ही किया जाना चाहिए।”

प्लेटो ने लिखा है—“मानवी मस्तिष्कों पर शासन कर सकने की क्षमता भाषण शक्ति में सन्निहित है।”

किपलिंग की उक्ति है—“शब्द मानव समाज द्वारा प्रयोग में लाया जाने वाला सर्वोत्तम रसायन है।”

विचारों की शक्ति संसार की सर्वोपरि शक्ति है। उसी के सहारे नर-पशु से भी गई-बीती स्थिति में पड़ा व्यक्ति प्रगति की

दिशा में अग्रसर होता है और विविध प्रकार की उपलब्धियों का अधिकारी बनता है। महामानवों की गरिमा, भौतिक क्षेत्र में बिखरा हुआ समृद्ध ज्ञान और विज्ञान द्वारा उत्पन्न सुख-साधन प्रगति के अनेकानेक सोपान, शान्ति और सुव्यवस्था के आचार-विचार रूप वृक्ष पर लगे हुए फल हैं। मानवी प्रगति का मूलभूत आधार भी उसे कह सकते हैं। तत्त्वदर्शी विचारों की गरिमा का विवेचन करते हुए आश्चर्यचकित रह जाते हैं कि अदृश्य शक्ति ने इस ऊबड़-खाबड़ संसार को किस प्रकार सुन्दर गुलदस्ते की तरह सुसज्जित कर दिया है।

एना हैप्सटन ने लिखा है—“ईश्वर की इस दुनिया में तारागण चन्द्रमा, बादल, पर्वत, पुष्प और चित्र-विचित्र प्राणियों का सौन्दर्य पग-पग पर बिखरा पड़ा है, पर शब्दों के समान और कोई सुन्दर वस्तु इस लोक में है नहीं।”

ई०डब्ल्यू विल्कोक्स कहते हैं—“मेरी धारणा है कि विचार अशरीरी नहीं, शरीरधारी हैं। उनमें बल भी है और पंख भी। वे संसार भर में भलाई और बुराई को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ढोते देखे जा सकते हैं।”

पोप विक्टर कहा करते थे—“काम इतने शक्तिशाली नहीं होते, जितने विचार। किसी युग की सबसे बड़ी उपलब्धि का इतिहास उस समय में फैले हुए विचारों के आधार पर ही लिखा जाना चाहिए।”

अलबर्ट स्वाइट्जर ने विचार-शक्ति को युद्ध से भी अधिक फलप्रद और शक्तिशाली सिद्ध करते हुए कहा है—“आज परिष्कृत विचारों का नितान्त अभाव दीखता है। हमने ऐसे प्रश्नों पर युद्ध लड़ डाले जिनका हल युक्तिवाद के सहारे वार्तालाप से निकाला जा

सकता था। विचारों की दृष्टि से जो नहीं जीत सका, वह जीत जाने पर भी पराजित ही रहेगा।'

मनीषियों को अपनी ज्ञान-सम्पदा अपने तक ही सीमित नहीं रखनी चाहिए, वरन् उसका लाभ दूसरों तक पहुँचाना चाहिये। उसी में उनके स्वाध्याय एवं मनन-चिन्तन की सार्थकता है। समाज के प्रति अपने कर्त्तव्यों का पालन तत्त्वदर्शी लोग इसी प्रकार कर सकते हैं कि वे जनमानस का स्तर निरन्तर ऊँचा उठाने का प्रयत्न करते रहें, उसे नीचे न गिरने दें, साधु, ब्राह्मण, मनीषी और तत्त्वज्ञानी सदा से लोक उद्बोधन में निरत रहकर जनता जनार्दन का पालन करते रहे हैं। ऐसी ही उनके लिए शास्त्र की आज्ञा भी है।

तीक्ष्णीयांसः परशोरग्नेस्तीक्ष्णतरा उत ।

इन्द्रस्य वज्रात् तीक्ष्णीयांसो येषामस्मि पुरोहितः ॥

अथर्व. ३/१९/४

“पुरोहित ऐसे प्रवचन करे, जिससे लोग क्रियाशील, तेजस्वी, विवेकवान् और उपकारी बनें। वे अधोगामी न होने पावें।”

शचीभिर्नः शचीवसू दिवा नक्तं दशस्यतम् ।

मा वां रातिरुप दसत्कदा चनास्मद्रातिः कदा चन ॥

ऋग्वेद १/१३९/५

“अध्यापक तथा उपदेशक लोगों को उत्तम धर्मनीति और सदाचार की शिक्षा दिया करें, ताकि किसी की उदारता नष्ट न हो।”

इतिहास साक्षी है कि वक्तृत्व शक्ति के सहारे कितने ही मनस्वी लोगों ने जन साधारण में हलचलें उत्पन्न कीं और उनके माध्यम से क्रान्तिकारी परिणाम प्रस्तुत हुए। बुद्ध, महावीर, शंकराचार्य, विवेकानंद, दयानन्द, गुरु रामदास, गुरु गोविन्द सिंह, विनोबा भावे आदि आचार्यों द्वारा धर्मक्षेत्र में और गाँधी, नेहरू, पटेल, लाजपतराय,

मालवीय, तिलक, सुभाष आदि नेताओं ने राजनीति के क्षेत्र में हलचलें उत्पन्न कीं और उनकी प्रतिक्रिया कैसे सुखद परिवर्तन सामने लाई, यह किसी से छिपी नहीं है। संसार के हर कोने में ऐसे लोग हुए हैं, जिन्होंने अपने क्षेत्रों की सामयिक समस्याओं का हल करने के लिये भाषण शक्ति पाई। ऐसे लोगों में डिमास्थनीज, ट्रूलियस, सिसरो, नेपोलियन, मार्टिन लूथर, अब्राहम लिंकन, वाशिंगटन, लेलिन, स्टालिन, हिटलर, मुसोलिनी, चर्चिल आदि के नाम गिनाये जा सकते हैं।

कई बार कुशल वक्ताओं द्वारा उत्पन्न की गई प्रभावोत्पादकता देखते ही बनती है। सुनने वालों का दिल उछलने लगता है। वे रोमांचित होते, जोश में आते दीखते हैं। भुजाएँ फड़कने लगती हैं और आँखों में उनकी भाव विभोरता का आवेश झाँकता है। सुनने वालों को हँसना, रुलाना, उछालना, फड़काना, गरम या ठंडा करना कुशल वक्ता की अपनी विशेषता होती है। जिसे यह रहस्य विदित होता है और उसका अभ्यास-अनुभव है, उसे जनता के मन-मस्तिष्कों पर शासन करते देखा जा सकता है। परिमार्जित वक्तृता में एक प्रकार की विद्युतधारा सनसनाती हुई रहती है। उच्चारण की गति, शब्दों का गठन, भावों का समन्वय घटनाक्रम का प्रस्तुतीकरण, तर्क और प्रमाणों का तारतम्य, भावनाओं का समावेश रहने से वक्ता का प्रतिपादन इतना हृदयस्पर्शी हो जाता है कि सुनने वालों को अपनी मनःस्थिति को उसी की अनुगामिनी बनाने के लिए विवश होना पड़ता है।

नेपोलियन की वाणी में जादू था, वह जिससे बात करता उसी को अपना बना लेता था। उसके निर्देशों को टालने की कभी किसी की हिम्मत नहीं हुई। वह जब बोलता तो साथियों में जोश भर देता

था और वे मन्त्र मुग्ध की तरह आदेशों का पालन करने के लिए प्राणपण से जुट जाते थे। हिटलर जब बोलता था तो जर्मन नागरिकों के खून खौला देता था। लेनिन ने दबी-पिसी रूसी जनता को इतना उत्तेजित कर दिया कि उसने शक्तिशाली शासकों से टक्कर ली और उनका तख्ता पलट दिया। सुभाषचन्द्र बोस ने प्रवासी भारतीयों को लेकर आजाद हिन्द फौज ही खड़ी कर दी। मार्टिन लूथर ने पोपशाही पोंगा पंथी की गहरी जड़ों को खोखला करके रख दिया और योरोप भर में धार्मिक क्रान्ति का नया स्वरूप खड़ा कर दिया। गाँधी ने भारतीय जनता को स्वतंत्रता संग्राम में मोर्चे पर खड़ा कर देने में जो सफलता पाई, उसमें उनकी वक्तृत्व शक्ति का अद्भुत योगदान था।

अमेरिका के राष्ट्रपति अब्राहम लिंकन का व्यक्तित्व आकर्षक न था। वे दुबले, लम्बे और कुरूप थे। घर बार की दृष्टि से भी वे निर्धनों में ही गिने जाते थे; पर उनकी भाषण प्रतिभा अनोखी थी। प्रधातया इसी गुण के कारण वे इतने लोकप्रिय हो सके और उस देश के राष्ट्रपति चुने जा सके। जब तक उनके पास भाषण की पर्याप्त सामग्री एकत्रित न हो जाती, तब तक वे कभी बोलना स्वीकार न करते।

भगवान् बुद्ध ने दुष्प्रवृत्तियों की बाढ़ को रोकने के लिए पैनी वाक्शक्ति का उपयोग किया। उनके प्रवचन बड़े मर्मस्पर्शी होते थे। यही कारण था कि उनके जीवन काल में ही लाखों व्यक्ति भिक्षु और भिक्षुणी बनकर, धर्मचक्र प्रवर्तन में अपनी समस्त सामर्थ्य झोंककर धर्म प्रचारक बन गये।

भारत के स्वतंत्रता संग्राम को जन्म देने, आगे बढ़ाने और सफल बनाने में जिन नेताओं ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी, वे सभी कुशल वक्ता थे। दादाभाई नौरोजी, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, रानाडे, गोखले,

लोकमान्य तिलक, विपिन चन्द्रपाल, चितरंजन दास, महात्मा गाँधी, पं० मोतीलाल नेहरू, सुभाषचन्द्र बोस, लाला लाजपतराय, महामना मालवीय, राजगोपालाचार्य, जवाहरलाल नेहरू आदि के भाषण भारतीय जनता में प्राण फूँकते थे। उनकी भाषा बड़ी ओजस्वी और मर्मस्पर्शी होती थी। वक्तृत्व कला की दृष्टि से उनके भाषण बड़े प्रभावशाली, प्रवाहपूर्ण और प्रथम श्रेणी के माने जाते थे। उन लोगों की सफलता के कारण तलाश करने पर कुछ तथ्य स्पष्ट रूप से सामने आते हैं। पहला यह कि उनके सामने जो लक्ष्य था, उसमें अनीति का विरोध करने के लिए प्राण होम देने के लिए आतुर साहस, सर्वतोभावेन मातृभूमि के लिए आत्मसमर्पण-लक्ष्य की ओर द्रुतगति से बढ़ चलने की तड़पन, स्वार्थ सिद्धि से कोसों दूर त्याग-बलिदान की प्रचण्ड निष्ठा जैसे भावनात्मक कारण मुख्य थे।

जिनके पीछे पानी का दबाव अधिक होता है, वे नदियाँ एवं झरने बड़ी तेजी से बहते हैं, उनकी लहरें, हिलोरें तथा ध्वनियाँ बड़ी मनोहारिणी होती हैं। जिनके पीछे दबाव न हो, उनका पानी बहता तो है; पर मन्दगति की निर्जीवता ही दिखाई देती है। यही बात भाषणों के सम्बन्ध में है। वक्ता की भावनाएँ जितनी प्रचण्ड होंगी, प्रतिपाद्य विषय में उसकी निष्ठा, लगन, तत्परता, तन्मयता, आकुलता का जितना गहरा पुट होगा, उतना ही ओज वाणी में भरा होगा। सामाजिक एवं धार्मिक क्षेत्र में स्वामी विवेकानन्द, रामतीर्थ, रामदास, गुरुगोविन्द सिंह, दयानन्द, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, राममोहन राय आदि के भाषण बड़े प्रभावशाली रहे हैं। सूर, तुलसी, कबीर, दादू, रैदास, चैतन्य आदि के भजन सुनकर लोग भाव-विभोर हो उठते थे। उसमें उनका कंठ स्वर अथवा कविता का शब्द गठन उतना उच्चस्तरीय नहीं था, जितना कि उनका तादात्म्य व्यक्तित्व। ऐसे लोगों की वाणी कदाचित्

लड़खड़ाती भी हो और शब्दों का चयन उतना अच्छा न बन पड़े, तो भी लोग उस कमी पर ध्यान नहीं देते। गांधी जी के भाषण, भाषण-कला की दृष्टि से उतने अच्छे नहीं होते, फिर भी उनका व्यक्तित्व वाणी के साथ घुला होने के कारण उन्हें लोग न केवल श्रद्धापूर्वक सुनते थे, वरन् बहुत अधिक प्रेरणा भी ग्रहण करते थे।

वक्ता, लेखक, कवि, गायक, अभिनेता आदि कलाकार माने जाते हैं। उनकी अभिव्यक्तियाँ बहुत कुछ इस बात पर निर्भर रहती हैं कि उन्हें स्वयं कैसी अनुभूतियाँ होती हैं। यदि उनका निज का अन्तःकरण नीरस और शुष्क हो, व्यवसाय बुद्धि से बेगार भुगतने के लिए वह सब कुछ कर रहे हों, तो उनका भाषण, लेखन, कविता गायन, अभिनय आदि स्पष्टतः नीरस दिखाई पड़ेंगे, भले ही उन पर मुलम्मा कैसा ही क्यों न चढ़ाया गया हो। विद्वान् सदा से यही कहते रहे हैं कि जब भीतर से भावनाएँ फूट रही हों, तभी उनके प्रकटीकरण का साहस करना चाहिए। संसार के महामानव ओजस्वी वक्ता भी रहे हैं, इसे दो तरह कहा जा सकता है। वाक्शक्ति के कारण वे ऊँचे स्तर तक पहुँच सके अथवा उनका भावना प्रवाह ऊँचा होने के कारण वाणी में ओजस्विता उत्पन्न हुई। कहा किसी भी तरह जाए, वस्तुतः दोनों परस्पर अविच्छिन्न और अन्यान्योश्रित हैं। दोनों तथ्य पूर्णतया परस्पर घनिष्ठतापूर्वक मिले हुए हैं।

वाणी की ओजस्विता और भावनाओं की प्रखरता दोनों को एक ही सिक्के के दो पहलू कहना चाहिए। सही तरीका यह है कि जिसके भीतर ज्ञान और भाव का निर्झर फूटता हो, उसे अपनी अभिव्यक्ति करनी चाहिए। दूसरा तरीका आरम्भिक अभ्यास की दृष्टि से यह भी हो सकता है कि जब बोलना हो, तब प्रतिपाद्य विषय में अपनी सघन श्रद्धा और तत्परता उत्पन्न करने का प्रयास करना

चाहिए। स्वाभाविक न होने पर उसे लोग नाटकीय भी बताते हैं और उस आधार पर भी वाणी में प्रभाव उत्पन्न करते हैं। सोचने की बात है कि जब कृत्रिमता के बल पर लोग अपना काम चला लेते हैं और बहुत हद तक अभीष्ट सफलता प्राप्त कर लेते हैं, तो वास्तविकता होने पर कितना अधिक और अस्थायी प्रभाव उत्पन्न किया जा सकेगा। अभ्यास, अनुभव, इच्छा, सतर्कता से कोई भी कला सीखी जा सकती है। धैर्यपूर्वक देर तक प्रयत्न करने और हर बार पिछली भूल का परिष्कार करते हुए नये सुधारों का समन्वय करने से प्रत्येक कलाकार प्रगति करता है। वक्तृत्व कला भी यही सब चाहती है। यह भी उन्हीं शाश्वत तथ्यों के आधार पर निखरती है, जिनके सहारे अन्य कलाकार उच्चस्तरीय सफलता तक पहुँचते रहे हैं।



वाणी में सामर्थ्य का उद्भव

प्रभावोत्पादक वाणी के दो आधार हैं। एक शक्ति, दूसरी कला। शक्ति वह है, जो वक्ता की आस्था, निष्ठा, क्रिया एवं तन्मयता से उत्पन्न होती है। जीभ से मात्र ध्वनि ही नहीं निकलती, वरन् उसके साथ वह सब भी घुला होता है, जो उसके दृष्टिकोण और व्यक्तित्व का अंग है। लहसुन खाने या शराब पीने के उपरान्त ठीक वैसी ही गन्ध मुँह से निकलती है। मसूड़ों की सड़न अथवा अपच होने पर उसकी दुर्गन्ध मुख से आती है। ठीक उसी प्रकार अन्तःकरण में यदि दुर्भावना भरी होगी, तो शब्दों में उसकी झलक न मिलने पर भी सूक्ष्म संवेदनाएँ ऐसी जुड़ी होंगी, जो सुनने वालों के मन में अवज्ञा के भाव उत्पन्न करेंगी। शब्दों की दृष्टि से सहमत होते हुए भी उसे कोई हृदयंगम न करेगा।

वाणी की सामर्थ्य व्यक्ति के चरित्र से पूर्णतया सम्बन्धित है। शब्दों को छलपूर्वक बोला जा सकता है; पर चरित्र को नहीं छिपाया जा सकता। उसे छिपाना बुद्धि बल के लिए भी सम्भव नहीं। शब्द छल किया जा सकता है— जो अपने को स्वीकार नहीं, उसके लिए दूसरों को उपदेश दिया जा सकता है। चोर भी व्यास पीठ पर बैठकर ईमानदारी का उपदेश दे सकता है। शब्द प्रवाह को विस्तृत करने में कोई कठिनाई नहीं। जीभ से कुछ भी कहा जा सकता है। तर्कों के आधार पर लोगों को सहमत भी किया जा सकता है; पर उन्हें प्रभावित करके अभीष्ट मार्ग पर चलना, उसी के लिए सम्भव होगा, जो वाणी के साथ अपनी गहन आस्था और क्रियाशीलता को भी जोड़े हुए है।

वक्ता वाणी से प्रवचन करते हैं। उनके शब्दों में जितने तर्क, तथ्य, प्रमाण, उदाहरण होते हैं; उस अनुपात से सामान्य लोग उसे

पसन्द भी करते हैं और बौद्धिक दृष्टि से सहमत भी होते हैं; किन्तु इससे उन्हें उस स्तर तक प्रभावित नहीं किया जा सकता जिससे कि वे प्रतिपादन को हृदय से स्वीकार कर लें और निर्दिष्ट मार्ग पर चलने तक को तैयार हो जाएँ। वाणी का कला-प्रवाह कानों को प्यारा लगता है और मस्तिष्क को प्रभावित करता है; पर इससे आगे उसकी पहुँच नहीं। अन्तःकरण को छूने की सामर्थ्य उसी वाणी में होती है, जिसकी चरित्र-निष्ठा ने उसे समुचित रूप से शक्तिशाली बना दिया है।

वाणी की कला सीखी जा सकती है। अभ्यास से उसे विकसित किया जा सकता है। प्रयत्न और प्रशिक्षण से वक्तृत्व कला में कोई भी प्रवीण हो सकता है। अनेक क्षेत्रों में कलावन्त मौजूद हैं, उन्होंने प्रयत्नपूर्वक अभ्यास किया है और प्रवीणता प्राप्त की है। शब्दोच्चार श्रम करने से अविकसित या अल्प विकसित भी क्रमशः अग्रगामी होते गये हैं और अन्ततः अभीष्ट प्रयोजन में पारंगत बने हैं। प्रत्येक शिल्प के शिक्षण की पुस्तकें और पाठशालाएँ मौजूद हैं। भाषण-कला में सफलता प्राप्त करने के लिए भी ऐसे साधन मौजूद हैं। इस पुस्तक का लेखन भी उस क्षेत्र की कलाकारिता सिखाने के लिए ही हुआ है।

शब्द-कला में सफल बनने के थोड़े से तथ्य ये हैं-निर्भीकता, झिझक और संकोच का परित्याग, अध्ययन, व्यक्तित्व का परिचय, प्रदर्शन, प्रतिपादन का ढाँचा तैयार करना, पूर्वाभ्यास को महत्त्व देना, उपस्थित समुदाय के स्तर को समझकर बोलना, वाणी को असंस्कृत न होने देना, सभी के शिष्टाचारों का पालन, तथ्य, तर्क, प्रमाण, उदाहरणों का समुचित समावेश, आकर्षक प्रसंगों का समावेश, भावस्पर्शी संवेदनाएँ जोड़ते चलना। इन्हीं मोटी बातों को इस पुस्तक

में बताया गया है। इन्हीं बातों की चर्चा घुमा फिरा कर अन्य लेखक तथा अध्यापक करते हैं। "लैक्चर" भी एक पेशा हो गया है। अध्यापकों को रोटी इसी आधार पर मिलती है। वकीलों की गुजर भी इसी के सहारे होती है। दलाल-नेता-अभिनेता भी जीभ की कमाई खाते हैं। ऐसे ही और भी अनेक व्यवसाय हैं। उगों का धन्धा भी पूरी तरह वाक्चातुरी पर निर्भर है। यह कोई बहुत कठिन काम नहीं है। सरकस वाले शेर, हाथी, गेंडा, रीछ, बन्दरों को सधा-सिखा लेते हैं, फिर कोई कारण नहीं कि जीभ को उच्चारण प्रवीणता के लिए सिखाया, सधाय न जा सके।

जिसके मुँह में जीभ है, जो अपने घर में, दफ्तर में, दोस्तों में, दुकान-बाजार में बातचीत कर सकता है, उसके बारे में यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि धैर्य और साहसपूर्वक कुछ समय प्रयत्न और अभ्यास करते रहने पर वह जरूर वक्ता बन सकता है। गूंगे, बहरे, पागल या मुख-कण्ठ के रोगी असफल रहेंगे। ऐसे लोग भी असफल रहेंगे, जो हिम्मतहार चुके अथवा अत्यधिक उतावले हैं। जिनका उत्साह पानी के बुलबुले की तरह उठता है और कुछ ही क्षण में समाप्त हो जाता है, ऐसे लोग कल्पनाएँ-जल्पनाएँ तो बहुत करते हैं; पर सफल किसी क्षेत्र में नहीं होते। उन्हीं के बारे में यह कहा जा सकता है कि वे वक्तृत्व कला में भी असफल रहेंगे। वस्तुतः इस दिशा में असफलता का एक ही प्रधान कारण है-हड़बड़ी, भीरुता, आत्महीनता, अस्त-व्यस्तता जैसी दुर्बलताओं से ग्रसित मनःस्थिति। इसे बदला जा सकता है। बदलाव रोज ही करना पड़ता है। क्रोध, आवेश, शोक, निराशा, आशंका आदि की अवांछनीय मनोदशाएँ अक्सर आ दबोचती हैं और हैरान कर देती हैं। मनुष्य अपने आप ही इन अवांछनीयताओं की हानि समझकर उनसे लड़ता

है और हटाकर स्वाभाविक संतुलन प्राप्त कर लेता है। भाषण में असफलता प्रस्तुत करने वाली हड़बड़ी को भी जीता जा सकता है, इसमें कोई विशेष कठिनाई नहीं है। आत्म-सुधार के लिए प्रयत्नशील व्यक्ति इस कठिनाई पर आसानी से विजय प्राप्त कर सकते हैं। आरम्भ में जिन कार्यों के बारे में कुछ भी जानकारी नहीं थी, उन्हें लोग प्रयत्नपूर्वक सीख लेते हैं और फिर उनमें निष्णात हो जाते हैं। जिन्होंने पहले कभी भाषण नहीं दिया है, उनके लिए वह नई बात, अत्यन्त दुष्कर प्रतीत हो सकती है; पर अभ्यास करने पर पता चलता है कि वस्तुतः इसमें इतनी कठिनाई थी नहीं, जितनी कि आरम्भ में प्रतीत होती थी।

भाषण कला न बहुत सरल है और न कठिन। उसे सरल भी कह सकते हैं और कठिन भी। सरल उनके लिए है, जो धैर्य और विश्वास के साथ उसके लिए गम्भीर प्रयत्न करने को तत्पर रहते हैं। कठिन उनके लिए जो हथेली पर सरसों जमाना चाहते हैं और प्रयास को सफलता के लिए अनवरत तत्परता का जो मूल्य चुकाना पड़ता है, उसे चुकाने के लिए तैयार नहीं होते। जादुई सफलता पाने के लिए लालायित बाल-बुद्धि पग-पग पर उपहासास्पद बनती है। फिर भाषण कला में भी उसे निराशा ही हाथ लगेगी। इन अर्ध-विक्षिप्तों को छोड़कर शेष प्रत्येक उस आदमी के बारे में जो गूँगा-बहरा नहीं है, यह कहा जा सकता है कि वह देर-सबेर कुशल वक्ता अवश्य बन जाएगा। वक्तृत्व कला उसे जरूर आ जाएगी।

अधिक कठिनाई वाणी में समर्थता प्राप्त करने की है। उसके लिए कला कुशलता के नियमों का जानना एवं अभ्यास करना पर्याप्त नहीं। उसके लिए अपने समग्र व्यक्तित्व का परिमार्जन, परिशोधन करना पड़ता है। गुण, कर्म, स्वभाव को, चिन्तन एवं कर्तृत्व को

परिष्कृत बनाना पड़ता है। जो कहना चाहते हैं, जो करना चाहते हैं, उसे पहले अपने अभ्यास में लाना होगा। जब अपने विचारों से हम अपने को ही प्रभावित न कर सके और उस राह पर चलने का दबाव न डाल सके, तो फिर यह कैसे आशा की जाय कि जिन पर हमारा स्वल्प अधिकार है, वे कहना मानेंगे और उस राह पर चलेंगे, जिस पर चलने के लिए उन्हें निर्देश दिया जा रहा है।

अपनी वस्तुस्थिति एक सीमा तक ही छिपाकर रखी जा सकती है। व्यक्तित्व में इतने अधिक छिद्र होते हैं कि उनमें होकर वस्तुस्थिति की झाँकी-गन्ध दूसरों तक पहुँच जाती है। उस पर देर तक पर्दा नहीं डाला जा सकता। जिन वस्तुओं को छिपाया जा सकता है, वे दूसरी है। उनमें व्यक्तित्व की गणना नहीं होती। हम जहाँ भी जायेंगे, वहीं हमारा व्यक्तित्व वस्तुस्थिति का अनचाहे ही प्रदर्शन-प्रकटीकरण करता रहेगा। उसे आवरणों में ढकने के सारे प्रयास निष्फल होते हैं। जो जैसा है, वह लोगों की आँखों में आकर ही रहेगा। कृत्रिम निन्दा या स्तुति से भले को बुरा और बुरे को भला बताने के लिए कितने ही आडम्बर क्यों न रखे जायें, वे देर तक काम न दे सकेंगे। यथार्थता हजार पर्दे फाड़कर बाहर आ जाती है। पारे को खाकर पचाया नहीं जा सकता। वह शरीर से फूटकर बाहर निकलता ही है। ठीक इसी प्रकार चरित्र की अवांछनीयताएँ कल नहीं तो परसों प्रकट होकर ही रहती हैं और उसकी दुर्गन्ध हवा में सहज ही उड़ती चली जाती है।

चरित्र से वाणी में सामर्थ्य उत्पन्न होती है। चिन्तन और क्रिया का सम्मन्वय ही चरित्र है। पूरब की सोचने वाले और पश्चिम को चलने वाले उपहासास्पद होते हैं। मंजिल तक वे पहुँचते हैं, जिनके विचार और कार्यों की दिशा एक है। भले ही नहीं, बुरे भी इस

आधार पर सफल होते हैं। एक वेश्या अपने प्रभाव से सैकड़ों को दुराचारी बना देती है। एक शराबी अपने कई पक्के साथी बना लेते हैं। चोर, जुआरी, व्यसनी अपना सम्प्रदाय-परिवार बढ़ाते ही रहते हैं। इसका कारण यह है कि उनके विचार और कार्य एक हैं। जैसा सोचते हैं, वैसा करते भी हैं। जहाँ भी विचार और कर्म का समन्वय होगा, वहाँ व्यक्तित्व बनेगा और वहीं प्रभावोत्पादक शक्ति बढ़ेगी। भले लोगों के सम्बन्ध में भी यही सिद्धान्त लागू होता है। यदि सद्भावनाएँ और सत्प्रवृत्तियाँ किसी व्यक्ति में विद्यमान होंगी, तो कोई कारण नहीं कि वह दूसरों को उसी दिशा में आकर्षित न कर सकें।

वाणी प्रकटीकरण का एक औजार मात्र है। वह शब्द बोल सकती है, सामर्थ्य उस मांस-पिण्ड में नहीं। वह तो समूचे व्यक्तित्व में सन्निहित रहती है और आवाज के साथ प्रकट भर होती है। यदि अपने प्रवचन को-प्रतिपादन को दूसरे से क्रियान्वित कराना हो, तो उसके लिए यह नितान्त आवश्यक है कि वचन और कर्म में तादात्म्य स्थापित किया जाए। जैसा कहे वैसा करें भी।

शिल्प, साहित्य, व्यवसाय, कृषि, व्यायाम आदि की शिक्षा देने के लिए भी उस विषय की प्रवीणता पहले स्वयं प्राप्त करनी पड़ती है, तभी वे दूसरों को सिखाये जा सकते हैं। अनुभव हीन व्यक्ति पुस्तक पढ़कर इंजीनियर आदि का प्रशिक्षण करने लगे, तो उसकी बात अटपटा जायेगी। छात्रों को कुछ सिखा सकने की बात तो बनेगी ही नहीं, उलटे अपने अनाड़ीपन के कारण तिरस्कार का पात्र बनना ही पड़ेगा। जहाँ तक जानकारीयों का सम्बन्ध है, एक मस्तिष्क से दूसरे तक पहुँचाई जा सकती है; पर विचार परिवर्तन में, विशेषतया आदर्शवादी प्रतिपादनों में तो यह नितान्त आवश्यक हो

जाता है कि वक्ता अपनी वाणी के साथ-साथ चरित्र द्वारा भी प्रवचन कर सके।

प्राचीनकाल में हर कोई प्रवचन करने का साहस नहीं करता था, विशेषतया नैतिक एवं आदर्शवादी प्रेरणाओं के सम्बन्ध में तो इसका पूरा ध्यान रखा जाता था। गणित, भूगोल, इतिहास आदि मात्र जानकारी देने वाले विषयों पर जानकार लोग आवश्यक बातें बता सकते हैं। इसमें चरित्र की नहीं, ज्ञान की आवश्यकता मात्र पर्याप्त मानी जाती है। जहाँ तक दूसरों के विचार और विश्वास बदलने का सम्बन्ध है, दिशा परिवर्तन के लिए कहना है, तो प्रथम यह सिद्ध करना होगा कि जो कहा जा रहा है, उसे वक्ता ने उचित, आवश्यक, व्यावहारिक एवं उपयोगी माना है कि नहीं? इस कसौटी पर परखे बिना कोई कदाचित ही अपने अभ्यस्त ढर्रे को बदलकर नई राह पर चल सके। आदर्शवाद के सम्बन्ध में तो यह बात नितान्त आवश्यक है कि वक्ता इसका प्रयोग पहले अपने ऊपर करने के बाद ही दूसरों से अनुरोध करने का साहस करे। जब स्कूली अध्यापक की नियुक्ति इस आधार पर होती है कि वे अभीष्ट शिक्षा दे सकने योग्य परीक्षा उत्तीर्ण कर चुके हैं या नहीं, तो कोई कारण नहीं कि धार्मिक, नैतिक एवं सामाजिक विषयों की शिक्षा देने वालों से उसी प्रकार की आशा न की जाय।

इन दिनों वाणी की कला तो बढ़ रही है, पर उसकी सामर्थ्य घट रही है; यह बड़े दुःख का विषय है। दीपक जब स्वयं बुझा हुआ है; तो दूसरे को कैसे जलायेगा, दूसरों को प्रकाश कैसे देगा? जिन्हें भाषण देना है, मार्गदर्शक एवं लोकनायक बनना है, उनके लिए यह आवश्यक है कि प्रतिपाद्य विषय में स्वयं निष्णात बनें। वचन और कर्म में ऐसा समन्वय करें, जिससे वाणी में प्रभावोत्पादक सामर्थ्य

उत्पन्न हो और उससे बक-झक की विडम्बना रचे जाने के स्थान पर कुछ ठोस काम बन सकना सम्भव हो सके।

प्राचीनकाल के वक्ताओं का प्रभाव, उनकी शक्ति, उनकी चरित्रनिष्ठा पर ही अवलम्बित थी। भगवान् बुद्ध, महावीर, शंकराचार्य, गुरु गोविन्द सिंह, समर्थ गुरु रामदास, विवेकानन्द, दयानन्द, गाँधी आदि महामानवों की वाणी ने असंख्य मनुष्यों का कायाकल्प किया और उन्हें गिरे हुए अथवा सामान्य स्तर से ऊँचा उठाकर कष्टसाध्य आदर्शवादी रीति-नीति अपनाने को तत्पर किया। इसमें उनकी शब्द कला की नहीं, चरित्र निष्ठा की सामर्थ्य काम कर रही थी।

नारद जी के कहने से वाल्मीकि, ध्रुव, प्रह्लाद आदि अनेकों ने अपने जीवन बदल डाले। वही शब्द दूसरे कहते, तो कुछ प्रभाव न पड़ता। ऋषियों के मुख से धर्म प्रवचन सुनने को उनके स्थानों पर तीर्थयात्रा करते हुए लोग पहुँचते थे। यों उनकी वाणी पुस्तक में भी पढ़ी जा सकती थी। राजा हरिश्चन्द्र का नाटक देखकर बालक गाँधी प्रभावित हुआ और उसी राह पर चलकर महात्मा गाँधी बना। ऐसे न जाने कितने गाँधी राजा हरिश्चन्द्र ने अपने बाद भी बनाते रहने का क्रम जारी रखा है। ऐसे महामानवों की शिक्षा उनके न रहने पर भी आकाश में गूँजती और जनमानस को प्रभावित करती रहती है।

ईश्वर उपासना में स्त्रोत पाठ, मंत्र जप आदि इसलिए निष्फल होते हैं कि उच्चारण करने वालों की जिह्वा 'जली हुई होती है, उससे वह ध्वनि नहीं निकलती, जो ईश्वर के कानों तक पहुँच सके। प्राचीनकाल में जो मंत्र बड़े शक्तिशाली थे, वे अब निष्फल सिद्ध होते हैं। कारण यह है कि सफल मंत्रोच्चारण कर सकने में समर्थ वाणी ही समाप्त हो गई। जिह्वा का दुरुपयोग होने पर वह जल जाती है, वाणी मृतक हो जाती है। उसे अवांछनीय रीति से प्रयुक्त किया जाता

रहा है। असत्य बोलने, छल करने, मर्मभेदी कटुवचन बोलने, अभक्ष्य एवं अनीति उपार्जित खाने, अनीति का समर्थन करने, गिराने वाले परामर्श देने से जिह्वा जल जाती है और वाणी मर जाती है। उसके द्वारा किये गये मंत्रोच्चारण, पाठ आदि निरर्थक होते हैं। ठीक इसी प्रकार मार्गदर्शन करने की क्षमता भी ऐसे लोगों में नहीं रह जाती। वाक् चातुरी से सुनने वालों को चमत्कृत तो किया जा सकता है, पर उसका कोई स्थाई प्रभाव नहीं पड़ता। विदूषकों एवं अभिनेताओं जैसा वाणी विलास अमुक स्तर का मनोरंजन मात्र बनकर रह जाता है।

वक्ता वस्तुतः विचारों का सृजेता और प्रस्तोता है, साथ ही भव्य कल्पनाओं का अवतरण एवं चित्रण कर सकने वाला स्वप्नदर्शी कवि और चित्रकार भी। विचारों का मूल्य इतना अधिक है कि उसकी तुलना संसार की अन्य किसी सम्पत्ति से नहीं की जा सकती। सम्पत्ति बढ़ने से मात्र भौतिक सुविधाएँ ही बढ़ सकती हैं, पर यदि विचारों की पूँजी न हो, तो उसका भी सदुपयोग नहीं हो सकता। दुरुपयोग की गई सम्पदा विपत्ति का कारण बनती है, यह सर्वविदित है।

विचारशील होना और सद्विचारों को अधिकाधिक लोगों तक फैलाना संसार का सबसे बड़ा पुण्य कार्य है। इसी प्रयास में निरत रहने वाले साधु और ब्राह्मणों को देवतुल्य पूजा जाता रहा है। हमें विचारों का महत्त्व समझना चाहिए। अपनी विचार-सम्पदा बढ़ानी चाहिए और प्रयत्न करना चाहिए कि उस मधु-संचय का लाभ अनेकों को मिलता रहे। वाणी उसी की धन्य बनती है और सद्विचार विस्तार के लिए प्रवाहित होती है।

शेक्सपीयर ने लिखा है—‘शब्द आसमान में उड़ जाते हैं, पर

विचार धरती पर चिरकाल तक ठहरे रहते हैं। विचारों में सामर्थ्य भावों से आती है। जो भावयुक्त, विचारयुक्त बोल सकता है, उसी का शब्दोच्चार सार्थक है।'

नेपोलियन कहता था- 'संसार विचारों से ही शासित होता चला आया है और उस पर सदा विचारशील ही छाये रहेंगे।'

वाणी एक ऐसा दर्पण है, जो मनुष्य के विचारों का ही नहीं, व्यक्तित्व का भी प्रकटीकरण करता है। विचारों को प्रकट करते समय ध्यान रखने योग्य है कि उनमें सज्जनोचित शिष्टता की कमी न पड़ने पाये।

सोफिया क्लीज ने लिखा है- "वाणी आत्मा का दर्पण है। व्यक्ति का व्यक्तित्व उसकी जिह्वा द्वारा ही प्रकट होता है।"

कम्प्युशियस का कथन है- "जब बोलने की जरूरत हो, तो चुप न बैठो और न बिना जरूरत के बक्रझक करो। शब्दों को नाप-तौल कर बोलो, जिससे तुम्हारी सज्जनता टपके।"

बेन डाइक की उक्ति है- 'अलादीन के खजाने से बढ़कर इस धरती पर असंख्य खजाने तिजोरियों में बन्द हैं, पर उनकी चाबी परिष्कृत शब्दोच्चारण में ही छिपी रखी है।'

वक्ता मात्र प्रस्तुत समस्याओं का विवेचन, वर्गीकरण ही नहीं करता, वरन् कल्पना भी देता है कि लोगों को क्या करना चाहिए और किस मार्ग से चलते हुए कहाँ पहुँचना चाहिए। यह कल्पना चित्र जितने स्पष्ट और जितने परिष्कृत होते हैं, उसी अनुपात से जनता का हित साधन होता है और कल्पनाशील व्यक्ति श्रेयाधिकारी बनता है। वक्ता को शब्दोच्चारण का कलाकार होकर ही नहीं रह जाना चाहिए, उसे विचारशील भी होना चाहिए, साथ ही उसकी पैनी कल्पनाशक्ति इतनी परिष्कृत होनी चाहिए कि भविष्य की संभावनाओं

के चित्र जनमानस पर उतार सकें। अवांछनीयताओं की विभीषिका और सही गतिविधियाँ अपनाकर उज्ज्वल भविष्य की संभावना का यदि सजीव चित्रण संभव हो सके, तो यह कल्पना शक्ति वक्तृता के साथ घुलकर 'सोने में सुगंध' का काम करेगी।

आइन्स्टीन कहते थे—“कल्पना ज्ञान से भी अधिक महत्त्वपूर्ण है।” पियर्स ने विद्वानों से भी अधिक गरिमा कल्पनाशीलों की बताई है। वे कहते हैं—“संसार के समस्त वैज्ञानिक आविष्कारों का श्रेय उनके शोधकर्त्ताओं की संयत कल्पनाशक्ति को ही दिया जाएगा। प्रयोगशालाएँ तो परीक्षा-साधन हैं, वस्तुतः सृजन और अवतरण तो कल्पना की तीक्ष्णता करती है।” जूवर्ट कल्पना को आत्मा का दिव्य चक्षु कहा करते थे। स्वामी विवेकानन्द ने लिखा है—“पवित्र कल्पना उतनी ही पवित्र है, जितने पवित्र कर्म।”

वक्ता को उच्च कल्पनाओं में ही डूबा रहना चाहिए। इसी आधार पर वह भविष्य की सुन्दर संभावनाओं का सही चित्र जनमानस पर उतारकर प्रगति की दिशा में चलने की प्रेरणा दे सकेगा।

बुद्धिमान् वक्ता उपस्थित जन समुदाय का बुद्धिबल विकसित करने में सहायता करते हैं। व्यायाम शाला के उस्ताद अपने शिष्य-शागिर्दों को स्वास्थ्य संवर्धन से लेकर कुश्ती पछाड़ने तक के कितने ही दाँव-पेच सिखाते हैं। वक्ता भी जनमानस को प्रशिक्षित करता है कि लोगों को किस तरह सोचना चाहिए और किस रीति से, क्या करते हुए, किस स्तर की सफलता प्राप्त करनी चाहिए। चिकित्सा, शिल्पकला, साहित्य आदि के क्षेत्र में अध्यापक लोग अपने शिष्यों को अधिक जानकार और अधिक अनुभवी बनाने में संलग्न रहते हैं। वक्ता का कार्य भी लगभग उसी प्रकार का है। वह विचार क्षेत्र में नेतृत्व करता है और जनसाधारण की चिन्तनशक्ति को, बुद्धिमत्ता को

प्रस्तुत प्रयोजन के संदर्भ में आगे बढ़ाता है। यह एक बड़ा काम और बड़ा उत्तरदायित्व है।

लोक नायकों जैसा, महामनीषियों जैसा प्रभाव वाणी में उत्पन्न करना हो, तो जीवन साधना में प्रवृत्त होकर शक्ति उपार्जित करनी चाहिए। उच्चस्तरीय विचारणाओं को ही मस्तिष्क में स्थान देना चाहिए। निकृष्ट कोटि के विचार जब भी मन में प्रवेश करें, उन्हें तत्काल खदेड़कर-बाहर करने और उनके स्थान पर आदर्शवादी मान्यताओं को स्थापित करने का प्रयत्न निरन्तर करते रहना चाहिए। धीरे-धीरे कुविचारों की जड़ कटती जायेगी और उस स्थान पर सद्विचार प्रतिष्ठापित होते जायेंगे। यही बात क्रियाकलाप के सम्बन्ध में है। प्रातः उठने से लेकर रात्रि को सोते समय तक की दिनचर्या हर दिन बनानी चाहिए। उससे आलस्य-प्रमाद के लिए, अवांछनीय कार्यों के लिए कहीं गुंजायश नहीं रहने देनी चाहिए। समय और श्रम का उपयोग इस प्रकार होना चाहिए कि उसमें वैयक्तिक, पारिवारिक और सामाजिक कर्तव्यों का पालन ही आदि से अन्त तक भरा हो; किसी दुष्कर्म की कहीं गुंजायश न रहे। उसी निर्धारित दिनचर्या के अनुरूप सारे दिन काम होते रहें, इस पर कड़ाई बरतनी चाहिए। गलती करने के लिए जब कदम बढ़ें, तो उन्हें तत्काल रोका जाए। भूल बन ही पड़े, तो उसके लिए प्रायश्चित्त किया जाय, अपने को दण्ड दिया जाए और आगे वैसा न होने देने के लिए अधिक सतर्क रहा जाय। विचारों में उत्कृष्टता और कार्यों में आदर्शवादिता की मात्रा दिन पर दिन बढ़ाते चला जाए, कुविचारों और कुसंस्कारों से जूझते रहा जाए, तो निश्चित रूप से वह जीवन साधना व्यक्तित्व का परिष्कार करती चलेगी जिससे वाणी से ही नहीं, बिना बोले भी सम्बद्ध व्यक्तियों को सन्मार्ग की दिशा में प्रेरित किया जा सकेगा।

शास्त्रकारों ने वक्ता को बहुत सम्मान दिया है; क्योंकि वह मात्र चरित्रनिष्ठ ही नहीं होता, अपनी विभूतियों से दूसरों को भी लाभान्वित करता है। कर्मयुक्त वाणी का उपयोग करके वह अपने को भी धन्य बनाता है और दूसरों को भी प्रकाश देता है। ऐसे तेजस्वी वक्ता कम ही होते हैं पर; जो होते हैं वे स्वयं गौरवशाली बनते हैं और अपने सम्पर्क क्षेत्र को गौरवान्वित करते हैं—

“वक्ता दशसहस्रेषु।”

“दस हजार पीछे कोई वक्ता होता है।”

“वक्तुर्गुण गौरवाद् वचनगौरवम्।”

“वक्ता के गुण गौरव से ही उसके वचनों का गौरव होता है।”

यादृगेव ददृशे तादृगुच्यते सं, छायाया दधिरे सिध्यप्स्वा।

महीमस्मभ्यमुरुषा मुरुज्रयो, बृहत्सुवीरमनपच्युतं सहः ॥

—ऋग्वेद ५/४४/६

‘जैसा आत्मा में हो, वही मन में हो; जो मन में हो, वही वाणी द्वारा व्यक्त करे। स्वयं आचरण में लाये धर्मतत्त्व का उपदेश करे। जिससे सब लोगों में विद्याबल और धन का संचय हो, ऐसे सदुपदेश करने वाले वक्ताओं की संसार में कमी न पड़े।’

यथापि रुचिरं पुष्पं वण्णवंतं अगन्धकम्।

एव सुभसित वाचा सफला होति सकुब्बतो ॥

“सुन्दर होते हुए भी पुष्प की सराहना तभी है, जब वह वर्णयुक्त और गन्धयुक्त भी हो। इसी प्रकार उपदेश उसका ही सफल होता है, जो कथन के अनुसार कार्य भी करता है।

एल. रोशोकि का कथन है—‘वक्तृता शब्दोच्चारण तक सीमित नहीं है। उसके साथ अन्तःकरण की आस्था और व्यक्तित्व की

प्रतिच्छाया भी जुड़ी रहती है। प्रभाव, आस्था और प्रतिच्छाया का पड़ता है, शब्दों का नहीं।'

वाणी को परिष्कृत करने के लिए उसमें मिठास उत्पन्न करना आवश्यक है। यह मिठास अन्तःकरण की उत्कृष्टता से ही उत्पन्न होती है। चापलूसों और ठगों जैसी मधुरता भी कला के रूप में विकसित की जा सकती है। स्वार्थी लोग दूसरों को मूर्ख बनाकर अपना उल्लू सीधा करने के लिए उस चतुरता को भली प्रकार सीख लेते हैं और भोले लोगों को सद्भावना के भुलावे में डालकर अपना स्वार्थ सिद्ध करते हैं। चतुरता का यह छद्म प्रयोग अवसर का लाभ उठाने तक ही फलित होता है। वस्तुस्थिति प्रकट होते ही लोग सतर्क हो जाते हैं और मित्रता की आड़ में शत्रुता बरतने वालों से सर्प, बिच्छू की तरह बचने लगते हैं। वाणी की स्थिर मधुरता मनुष्य की उदारता, आत्मीयता, स्नेहसिक्त सज्जनता और सेवा-सहायता के लिए तत्पर सद्भावना पर अवलम्बित है।

वाणी को शक्ति देने और कला को सुविकसित करने के लिए सबसे प्रथम और सबसे कारगर रीति यह है कि अपने व्यक्तित्व को, चरित्र एवं चिन्तन को उत्कृष्ट स्तर का बनाया जाए। शब्द प्रवाह में कला का, विद्या का समावेश करने के लिए अध्ययन एवं अभ्यास की आवश्यकता है, पर इतने भर सकेगा उसमें प्रभावोत्पादक शक्ति का उद्भव न हो सका यह प्रयोजन तो उज्ज्वल चरित्र और प्रखर दृष्टिकोण अपनाने, उसे अपने व्यावहारिक जीवन में उतारने से ही पूरा हो सकता है। हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि भाषण के साथ जुड़ा हुआ वक्ता का व्यक्तित्व ही सुनने वालों को प्रभावित करता है। उसे तेजस्वी बनाने की आत्म साधना में भी संलग्न रहना चाहिए।



भाषण कला का आरम्भ और अभ्यास

आरम्भ में भाषण की सफलता न मिले, तो निराश होने की आवश्यकता नहीं। कुछ समय प्रयत्नपूर्वक अभ्यास जारी रखने से वह कठिनाई दूर हो जाती है। सभी जानते हैं कि महात्मा गाँधी के प्रवचन सुनने के लिए हर जगह उत्साह के साथ भारी जन-समुदाय एकत्रित होता था। उनके भाषण जनता में नवजीवन उत्पन्न करते थे। उनके आह्वान से अगणित व्यक्ति सत्याग्रही बने और भारी कष्ट सहने को तत्पर हुए। फलतः भारत को स्वतंत्रता मिल गई। उनके भाषणों को सर्वत्र अति महत्त्व दिया गया था; किन्तु आरम्भ में ऐसी स्थिति नहीं थी। गाँधी जी जब दक्षिण अफ्रीका में वकालत शुरू कर रहे थे, तो प्रथम मुकदमे में अदालत के समक्ष जाने पर वे घबरा गये और बोलती बन्द हो गई। प्रयत्न करने पर भी वे कुछ बोल न सके। इस पर क्रुद्ध होकर जज ने उन्हें इजलास से बाहर निकलवा दिया। मुवक्किल भी बहुत क्रुद्ध हुआ; अपमान किया और अपने दिये हुए फीस के रुपये तत्काल वापिस ले लिए। उस समय कोई यह अनुमान नहीं कर सकता था कि भविष्य में वे ही गाँधी जी अपनी वाणी में जादू जैसा असर पैदा कर सकेंगे और इतने बड़े देश की जनता को अपने इशारों पर नचा सकेंगे। आरम्भ की असफलता देखकर किसी को हिम्मत हारने की जरूरत नहीं है। भाषण एक कला मात्र है। जो आदमी अपने घर-परिवार में या दोस्तों के साथ बातचीत कर सकता है, जिसकी जिह्वा में कोई दोष नहीं है, उसको थोड़े समय अभ्यास करते रहने पर यह कला निश्चित रूप में आ सकती है। किसी को भी ऐसा सोचने की आवश्यकता नहीं कि हम भाषण कर सकने की दृष्टि में अयोग्य हैं, हमें भविष्य में भी इसमें सफलता न मिलेगी।

अमेरिका के सुप्रसिद्ध वक्ता और लेखक सन्त इमर्सन आरम्भिक दिनों में जब भाषण करने खड़े होते थे, तो वे बुरी तरह सकपका जाते, उनके वाक्य अधूरे रह जाते और एक प्रसंग पूरा होने से पहले दूसरी बात शुरू कर देते थे। इस असफलता के कारण उन्हें कई बार उपहासास्पद बनना पड़ा, पर इससे उन्होंने हिम्मत नहीं हारी। दूने मनोबल से अभ्यास जारी रखा और अन्ततः विश्व में मूर्धन्य वक्ताओं में से एक बन गये।

अमेरिका के एक और मनीषी डेल कारनेगी केवल स्वयं कुशल वक्ता ही नहीं हैं, वरन् वे भाषण कला सिखाने का विद्यालय भी चलाते हैं। संभाषण कला पर उन्होंने बहुत कुछ लिखा भी है। वे आरम्भ से ही ऐसे कुशल न थे। प्रवीणता इन्हें बहुत समय उपरान्त प्राप्त हुई। जब वे नौसिखिया थे, तब उन्हें कई बार अपनी असफलता पर बड़ी निराशा हुई थी और बड़ी कठिनाई से ही अपने साहस की रक्षा कर सके थे।

ईसा से ३८४ वर्ष पूर्व यूनान के एथेन्स नगर में जन्मे विद्वान् डिमास्थनीज अपने समय के अति प्रभावशाली वक्ता थे। यह कुशलता प्राप्त करने के लिए उन्हें घोर प्रयत्न करना पड़ा। उनकी वाणी में दोष था, हकलाकर बोलते थे। शब्दोच्चारण सही न हो पाने के कारण साधारणतया यही समझा जाता था कि उनकी भाषण कर सकने सम्बन्धी महत्त्वाकांक्षा पूरी न हो सकेगी, पर उन्होंने हिम्मत नहीं हारी। एकान्त कमरे में सुनसान जंगलों में जाकर उन्होंने अभ्यास जारी रखा और समयानुसार अभीष्ट सफलता प्राप्त कर ली।

संसार में कितने ही ऐसे वक्ता हुए हैं, जिन्होंने अपने आरम्भिक भाषणों में निराशाजनक असफलता पाई। अनुमान था कि वे अच्छे वक्ता न हो सकेंगे, पर जब वे अदम्य साहस के बल पर अपनी

अक्षमता को निरस्त करने में लगे ही रहे, तो अपने उद्देश्य में असाधारण रूप से सफल होकर लोगों को चमत्कृत कर सके।

संसद सदस्य जॉन ब्राइट ६० वर्ष की आयु में उच्चकोटि का वक्ता था। उसने आत्मकथा में लिखा है—“आरम्भिक दिनों में बोलते समय उसके पैर और हाथ बेतरह काँपते थे, दिल धड़कता था और मुँह सूखता था; घबड़ाहट के मारे पसीना छूटता था। लगता था भाषण देना मौत से लड़ने की तरह कठिन है, पर मैंने अपनी कमजोरियों से जूझने का निश्चय किया और इस प्रयास में बिना थके वर्षों तक लंगा रहा। अन्ततः कमजोरियाँ हारीं और साहस जीत गया। आज मुझे अच्छे वक्ता के रूप में पहचाना जाता है।”

डिसरेली को यहूदी होने के कारण बोलने से रोका और टोका जाता था। उसे वैसे ही प्रथम बार बोलने में बहुत झिझक लग रही थी, इस पर भी यह रोक-टोक हिम्मत तोड़ने के लिए काफी थी। इस दुहरी कठिनाई से जूझने के लिए उसने सारा साहस समेटा और होठ चबाते हुए दाँत किटकिटा कर गर्जना की—“आपको मेरा भाषण सुनना ही होगा, क्योंकि उसमें सुनने और समझने लायक बहुत कुछ है। श्रोता शान्त हो गये और फिर वह पूरी हिम्मत के साथ अपनी बात कहता ही चला गया।”

लायड जार्ज अपने प्रथम भाषण की चर्चा करते हुए बताया करते थे कि उस प्रथम प्रयास में उनकी जीभ तालू से चिपक गई थी, मुँह सूख गया था और कुछ शब्द भी सही उच्चारण के साथ नहीं बोले जा सके थे।

भाषण सम्बन्धी असफलताओं का सबसे बड़ा कारण वक्ता की आत्महीनता है। वह उपस्थित लोगों को बहुत बड़ा मान लेता है और उनकी तुलना में अपने को तुच्छ अनुभव करता है। भीड़ को

देखकर डर जाने में घबराहट पैदा होती है, संतुलन बिगड़ जाता है, गला सूख जाता है और जीभ रुक जाती है। यह घबराहट अपनी ही मानसिक दुर्बलता की निशानी है। सुनने वाले परीक्षा लेने नहीं आते। घर में जिस प्रकार सभी आपस में बातचीत करते-सुनते हैं, वैसे ही एक बड़े परिवार के रूप में गोष्ठी या सभा जुड़ती है। यदि अपने पास कुछ कहने योग्य है, तो निर्भयतापूर्वक, संकोच रहित होकर कहना चाहिए। चोर को डरने का कारण है, पर अपने अच्छे विचारों को प्रकट करने में कोई ऐसा कारण नहीं जिसकी वजह से डरने की आवश्यकता पड़े। उपस्थित लोगों में यदि कुछ विद्वान्, प्रभावशाली एवं बड़े आदमी हैं, तो वे सहानुभूतिपूर्वक सुनने ही बैठे हैं-लड़ने के लिए नहीं। ऐसी दशा में उनसे भी क्यों डरा जाय ?

अपने को अयोग्य-अनभ्यस्त नौसिखिया मान लेने और वक्तृता के उपाहासास्पद बन जाने के डर से ही वह स्थिति पैदा हो जाती है, जिसे मानसिक असंतुलन कह सकते हैं। इसी हड़बड़ी में भाषण लड़खड़ा जाते हैं। यदि अभीष्ट मनोबल सम्पादन कर लिया जाए और उपस्थित जन-समुदाय को विपत्ति न मानकर घर-परिवार के लोगों के स्तर का मान लिया जाए, तो आत्म विश्वास उत्पन्न होगा और उस संतुलित मनःस्थिति में भाषण प्रवाह ठीक प्रकार चल पड़ेगा।

विद्वान् इमर्सन ने लिखा है-“ श्रोता समुदाय और कुछ नहीं, एक प्रकार का वाद्य यंत्र है। वक्ता को यह अनुभव करना चाहिए कि वह उस बाजे को बजाने के लिए खड़ा हुआ है।”

वक्ता का अति महत्त्वपूर्ण गुण है, उसकी निर्भीकता, निःसंकोचता। डरता वह है, जो कार्य होता है- अनेक दोष-दुर्गुणों में, पाप-अपराधों में, अभाव-अभिशापों में एक कायरता भी है।

डरपोक आदमी पग-पग पर मरता रहता है, जबकि स्वाभाविक मौत जिन्दगी भर में एक बार ही आती है। भयभीत मनुष्य कायरता के वशीभूत होकर न सोचने योग्य सोचता और न करने योग्य करता है। उसका सहारा लेने की किसी को इच्छा नहीं होती, उस पर कोई कदाचित् ही कुछ बड़े प्रयोजन पूरे कर सकने का विश्वास करता है। डरपोक आदमी गया-गुजरा और दया का पात्र समझा जाता है। वक्तृता में लड़खड़ाना प्रधानतया भीरुता एवं कायरता के कारण ही होता है, अन्यथा बातचीत तो यार-दोस्तों से भी करनी पड़ती है, घर-बाजार में भी तो बातें की जाती हैं। जब वहाँ जीभ को शब्द उच्चारण करने में कोई कष्ट नहीं होता, तो भाषण के समय ही अवरोध क्यों हो, वक्तृता के अवसर पर लड़खड़ाने में प्रायः वक्ता की डरपोक प्रकृति ही प्रधान बाधा सिद्ध होती है।

निर्भीकता और निःसंकोचता दोमों में अन्तर तो बहुत है, फिर भी उन्हें सहेली-सहचरी कहा जा सकता है। संकोच करने झिझकने में आत्महीनता ही एक कारण नहीं होता है, उसमें छिपाव या दुराव का भाव भी छिपा रहता है। दुराव छल की दृष्टि से भी होता है और परायेपन के कारण भी। पराये लोगों से तरह-तरह की आशंकाएँ होती हैं, वे क्रुद्ध हो सकते हैं, बुरा मान सकते हैं, उपहास कर सकते हैं-जैसी आशंकाएँ मन में रहती हैं, इसलिए कहने वाले को अपने मन की बात मन में ही छिपाये रहना ठीक लगता है। छोटे और बड़े होने के कारण भी यह अन्तर देखा जाता है। नौकर और मालिक में प्रायः खुलकर बात नहीं होती। नौकर का मन मालिक के बड़प्पन के भार से दबा-डरा रहता है। मालिक अपने नौकर को आश्रित, तुच्छ, हेय मानता है और उससे बराबरी के दर्जे पर लाकर मन की बातें करना अनुचित प्रतीत होता है। उसमें उसे अपनी 'हेठी' लगती

है। ऐसे ही अवरोध नौकर-मालिक को जी-खोलकर बातें नहीं करने देते और अति समीप रहते हुए भी बहुत दूर-नदी के एक तट से दूसरे तट की तरह कभी न मिलने वाले फासले पर रहते हैं। संकोचशीलता में आदमी की अपनी चारित्रिक या योग्यता सम्बन्धी कमी की झिझक भी एक कारण होती है। ऐसे-ऐसे अनेकों कारण संकोचशीलता के होते हैं। वे कुछ भी क्यों न हों, इतना निष्कर्ष तो निकाला ही जा सकता है कि शिष्टाचार के लिए आवश्यक विनयशीलता के अतिरिक्त संकोचशीलता हर दृष्टि से अवांछनीय है। वह संकोची को दब्बू, झेंपू, पिछड़ा, असंस्कृत, असामाजिक, साहसहीन जैसी क्षुद्रताओं से ग्रसित सिद्ध करती है।

भीरुता और संकोचशीलता में ग्रसित व्यक्तित्व अविकसित माना जाता है। साथ ही उस पर अयोग्यता के अतिरिक्त ओछेपन का भी लांछन आता है। ऐसा व्यक्ति न विश्वस्त ठहरता है और न प्रामाणिक। फिर उसके लँगड़े, लूले, अन्धे, अधूरे, लड़खड़ाते-हड़बड़ाते भाषण को सुनना कौन पसन्द करेगा? कौन उससे कितना प्रभावित होगा? इन्हीं लक्षणों के संदर्भ में वक्ता के लिए यह आवश्यक माना गया है कि निर्भीक और निःसंकोच होने की उसकी मूल प्रकृति होनी चाहिए। सफल वक्ता बनने के लिए इन दोनों सद्गुणों को अपने में विकसित करना नितान्त आवश्यक है।

डरा हुआ व्यक्ति यदि भाषण देने खड़ा भी हो जाए, तो उसके मुख से विसंगत बात निकलेगी, कुछ का कुछ कहेगा, एक बात पूरी होने से पहले उसे छोड़कर दूसरी कहने लगेगा। प्रसंग का प्रवाह जारी रखना भूलकर अप्रासंगिक बातें कहने लगेगा। सुनने वाले जब उन अटपटी बातों का उपहास करने की मुद्रा में होंगे, तो बोलने वाले का रहा-सहा साहस भी टूट जायेगा। जितना समय उसे बोलना था,

जो कुछ कहना था, उसे पूरा किये बिना ही वह चुप हो जायेगा। यह वक्ता की वैसी ही पराजय है, जैसा कि लड़ाई के मैदान में हारे हुए सैनिक के उतरे हुए चेहरे पर दिखाई देती है। इस प्रकार उपहास भाजन होते हुए कितने ही पराजय अनुभव करने वाले वक्ता हिम्मत हार जाते हैं और भविष्य में मंच पर खड़े होकर बोलने का साहस ही नहीं कर पाते।

इतिहास प्रसिद्ध वक्ताओं में से एक मार्टिन लूथर ने लिखा है—“भाषण में सफलता मुझे तब मिली, जब मैं मंच पर यह सोचकर खड़ा होने लगा कि उपस्थित जन-समुदाय मिट्टी के बने निर्जीव खिलौनों का ढेर मात्र है।”

नौसिखियों के लिए तो यह नितान्त आवश्यक है। उनका अभ्यास न होने के कारण मंच पर बैठने या प्रवचन करने के लिए खड़ा होने पर जनता की हजारों आँखें अपने ऊपर गड़ने से सकपका जाना स्वाभाविक है। इस उलझन भरी मनःस्थिति में प्रतिपादित विषय का जो क्रम एवं तारतम्य सोचा गया था, वह संभो गड़बड़ा जाता है और यह सूझ नहीं पड़ता कि क्या कहें, क्या न कहें? गाड़ी जरा-जरा चलकर अड़ जाती है। एक-दो बार रुकावट पड़ते ही आत्मविश्वास चला जाता है। लगता है हमारी योग्यता बोल सकने की नहीं है; अपने से यह नहीं बन पड़ेगा। आत्महीनता और निराशा की सम्मिलित मनःस्थिति एक बार लेट-पसर जाए, तो फिर उसे उठाना कठिन होता है। कितने ही प्रतिभाशाली व्यक्ति इसी आरंभिक असफलता के कारण हिम्मत छोड़ बैठे और कुशल वक्ता बनकर जो कार्य कर सकते थे, वे उससे वंचित रह गये। भाषण में मिली असफलता एक और छाप छोड़ती है कि अपना व्यक्तित्व त्रुटिपूर्ण है। अयोग्यता की बात सोचते-सोचते वस्तुतः अपना स्तर अयोग्य

जैसा ही बन जाता है। जो कमी अपने में नहीं थी, वह भी इस भ्रम ग्रस्त मनःस्थिति में 'मनसाभूत' बनकर पीठ पर लद जाती है। प्रवचन के आरंभिक प्रयास में मिली असफलता कई बार तो अन्य प्रकार की असफलताओं को भी अपनी शृंखला में बाँधकर सामने ले आती है।

भाषण कला के आरम्भिक अभ्यास में अपनी स्थिति एक विद्यार्थी की मानकर चलना चाहिए और इस प्रकार सोचना चाहिए कि हर काम के आरम्भ में त्रुटियाँ रहती हैं, उनकी मात्रा योग्यता वृद्धि के साथ घटती जाती है और अनवरत प्रयत्न जारी रखने पर समयानुसार प्रवीणता प्राप्त हो जाती है। यही बात भाषण कला के अभ्यास पर लागू होती है। आरम्भ के दिन ही कोई कुशल वक्ता नहीं बन सकता। हर किसी को इसके लिए प्रयत्नपूर्वक, मनोयोग के साथ अभ्यास करना पड़ता है। पूर्ण पारंगतता के लिए धीरज और हिम्मत के साथ प्रतीक्षा करनी पड़ती है।

अच्छे स्कूलों में आरम्भ से ही छात्रों को दूसरों के सामने अपने विचार व्यक्त करने का अभ्यास कराया जाता है, ताकि बड़े होने पर वे बिना झिझक के भाषण कर सकने में समर्थ हो सकें। कविता पाठ, गीत-गायन, सामूहिक प्रार्थना, अन्त्याक्षरी प्रतियोगिता, वाद-विवाद प्रतियोगिता, सांस्कृतिक कार्यक्रम, एकांकी नाटक आदि के अवसर जिन विद्यालयों में रहते हैं, उनके छात्र भाषण सम्बन्धी अभ्यास आरम्भ से ही करते हैं और आगे चलकर बिना झिझक बोल सकने में प्रवीण हो जाते हैं। निर्भीकतापूर्वक विचार व्यक्त कर सकना मनुष्य का आवश्यक गुण है। इसे विकसित करने के लिए छोटी आयु से ही अवसर मिलता रहे, तो फिर बड़े होने पर उसके लिए विशेष प्रयत्न एवं अभ्यास की आवश्यकता नहीं पड़ती। वह एक सहज-स्वाभाविक गुण बन जाता है।

आरम्भिक अभ्यास एकान्त में, एकाकी प्रयोग के रूप में किया जाना चाहिए। इसके लिए अपना निजी कमरा सबसे उपयुक्त स्थान है। उसमें जो सामान हो, उसे श्रोताओं की तरह सामने बिछा लेना चाहिए और यह अनुभव करना चाहिए कि यह एक जन-समुदाय बैठा हुआ है। इसके सामने प्रवचन निर्भीकतापूर्वक आरम्भ करने में कोई कठिनाई नहीं होती। जब दुकान पर ग्राहक न हों, तब दुकानदार अपनी बिखरी हुई विक्रय वस्तुओं को ही श्रोता मानकर अभ्यास आरम्भ कर सकता है। स्त्रियाँ अपने चौके-चूल्हे के सामान को, बर्तनों को श्रोता मानकर जब भी अवकाश हो, वक्तृता आरम्भ कर सकती हैं और एकाकीपन का समुचित लाभ इस कला का विकास करने के रूप में उठा सकती हैं।

वक्ता बनने का अभ्यास करने में बड़ा दर्पण बहुत सहायक होता है। उसके सामने बैठकर अपना चेहरा देखते हुए व्याख्यान देने से यह पता चलता है कि वक्तृता में चेहरे के हाव-भाव कैसे रहते हैं? बोलते समय दूसरों को हम कैसे लगते होंगे? आत्म समीक्षा से भाव-भंगिमा की, अंग संचालन की त्रुटियाँ दूर हो सकती हैं। अपने भाषण की सफलता देखकर आत्म-विश्वास बढ़ता है। दूसरों के सामने बोलने में जो संकोच होता था, वह शीशे को सम्मुख रखकर अपने ही सामने बोलने में नहीं होता। स्वच्छ जल वाले तालाब भी दर्पण का काम दे जाते हैं। संकोचशीलता को मिटाने के लिए आरंभिक दिनों में टहलने जाते समय किसी मैदान, पार्क या जंगल में बैठकर एकान्त प्रवचनों का सिलसिला बनाया जा सकता है। इस प्रकार आत्म-विश्वास बढ़ाते हुए प्रगति पर आगे बढ़ा जा सकता है।

अपने विश्वस्त मित्रों को सामने बिठाकर अपनी भाषण शैली के दोष बताने में सहायता ली जा सकती है। नये लोग तो वैसा कर

नहीं पाते, पर मित्र, स्वजनों में यदि परख सकने, सुझाव देने की क्षमता हो, तो वे अच्छे समीक्षक और मार्गदर्शक हो सकते हैं, उनकी सहायता लेने में लाभ ही है।

अपने से कम योग्यता वालों के सम्मुख भाषण करना और उन्हें प्रभावित करना अधिक सरल रहता है। आवश्यक नहीं कि अधिक विद्वानों या तथाकथित बड़े आदमियों के बीच में ही बोला जाए। अच्छा यह है कि अपने ज्ञान और स्तर से जिनकी स्थिति कम है, उनको अपना प्रचार क्षेत्र बनाया जाए। दसवें दर्जे का विद्यार्थी आठवें दर्जे वाले को अच्छी तरह पढ़ा सकता है और उसकी दृष्टि में सम्मान भी पा सकता है, पर बी०ए० के छात्रों को पढ़ाने में उसे सफलता न मिलेगी। ऐसी दशा में तथाकथित बड़े लोगों की अपेक्षा यदि अपने समय और ज्ञान का लाभ उनमें वितरित किया जाए, जो 'छोटे' समझे जाते हैं, तो यह प्रयास अधिक सफल बनकर रहेगा। यों सत्परामर्श देने के लिए छोटे-बड़े का भेदभाव करने की भी आवश्यकता नहीं है। बच्चे भी बड़ों को अनौचित्य छोड़ने के लिए साहसपूर्वक कह सकते हैं।

आरम्भ में भाषण का अभ्यास कम समय का कार्यक्रम बनाकर चलाना चाहिए। यह समय दस या पन्द्रह मिनट का पर्याप्त है। घर में एकान्त कमरा मिल सके तो ठीक, अन्यथा खेत, मैदान, पार्क, नदी तट आदि की खुली जगह भी उपयुक्त है। जनशून्य खेत-मैदानों में जाकर पेड़, पौधे, पत्थर, पक्षी, मच्छर, चींटी, दीमक, आदि को संबोधन करते हुए ही बोल सकते हैं। जो निर्जीव या सजीव वस्तुएँ सामने हैं, उन्हीं को उपस्थित जनता मानकर भाषण आरम्भ किया जा सकता है। ऐसा करने से सामने बैठे मनुष्यों को देखकर घबड़ाने की कठिनाई न रहेगी। दूर क्षेत्र में फैले हुए पेड़-

पौधे या घर में रखी हुई पुस्तकें आदि को सजीव मनुष्य-जनता मान लेने से आधी समस्या हल हो जाती है। भीड़ मौजूद भी है और नहीं भी है। भीड़ है, तो इसलिए कि संख्या की दृष्टि से पदार्थ मौजूद हैं और नहीं हैं इस दृष्टि से कि उनमें उपहास करने या अयोग्य ठहराने की क्षमता नहीं है।

अभ्यास थोड़े समय का इसलिए रखना उचित है कि उतने समय में निर्धारित विषय के अनेक विचारों में से कुछ तो मस्तिष्क में उठ ही आवेंगे और उन्हें संक्षेप में कहते हुए भी दस-पन्द्रह मिनट कह सकने लायक सामग्री तो मिल ही जायेगी, जिससे भाषण बिना लड़खड़ाये पूरा कर सकेंगे।

धीमे स्वर से नहीं, खुली, स्पष्ट और ऊँची आवाज में बोलना चाहिए। ऊँची आवाज में रुकने, लड़खड़ाने, हकलाने की कम गुंजायश रहती है। अक्सर जल्दी बोले गये शब्दों में उलझने की आशंका ज्यादा रहती है। उलझे हुए शब्द भाषा की दृष्टि से अधूरे और ध्वनि की दृष्टि से अस्पष्ट होते हैं। उनका अभिप्राय ठीक तरह समझ में न आने से जनता को उपहास करने का अधिक अवसर रहता है। इसलिए आरम्भिक वक्ता को न तो धीरे बोलना चाहिए और न ही तीव्र गति से। मस्तिष्क को सोचने, विचार-क्रम व्यवस्थित करने में जितना समय लगता है, उतना ही अवकाश यदि जीभ को उच्चारण के लिए मिल जाए, तो लड़खड़ाने की कठिनाई न पड़ेगी। जब एक बार ठीक चल पड़ा, तो फिर वक्ता को आत्मविश्वास हो जाता है कि वह ठीक तरह बोल सकने में सक्षम है। जहाँ यह आत्मविश्वास उत्पन्न हुआ, समझना चाहिए कि समस्या का अधिकांश समाधान हो गया। भाषण की असफलता का कारण वाणी का दोष, योग्यता की कमी, विचारों की न्यूनता आदि नहीं होते। वस्तुतः वह

मनोवैज्ञानिक समस्या है, जिसका समाधान ढूँढ़ने के लिए मनोवैज्ञानिक स्तर के प्रयास ही सफल होते हैं।

भाषण में जो कहना है, उसे एक कागज पर क्रमबद्ध रूप से नोट कर लेना चाहिए। स्मरण शक्ति के आधार पर आरम्भिक भाषण ठीक तरह दे सकना कठिन है। इसके लिए तैयारी आवश्यक है। सामान्य बातचीत में जो लोग क्रम बद्ध रूप से ठीक प्रकार बातचीत कर लेते हैं, वे भी भाषण के समय घबराहट में उन बातों को भूल जाते हैं। मस्तिष्क इस चक्कर में पड़ जाता है कि क्या कहें? कौन-सी बात पहले और कौन-सी पीछे कहने की है? यह उलझन वाणी की रुकावट या उलझन के रूप में सामने आती है। इस अड़चन से बचने का सीधा उपाय यही है कि भाषण को क्रमबद्ध रूप से साफ कागज पर बड़े अक्षरों में नोट किया जाए। आवश्यक नहीं कि पूरी इबारत लिखी जाय। अपने समझने लायक संक्षेप में-संकेत रूप से भी उन्हें लिखा जा सकता है। आवश्यकता अपने आपको स्मरण दिलाने भर की है। वह प्रयोजन जितने अक्षरों से पूरा होता हो, उतने ही नोट करके काम चलाया जा सकता है।

बच्चे को कहानियाँ सुनाने से वक्तृत्व कला का अभ्यास करना बहुत ही सरल है। पुस्तकों में से कुछ उपयोगी कहानियाँ चुन ली जाएँ और फिर उन्हें बच्चों के सामने रोचक एवं शिक्षाप्रद तत्त्व मिलाकर ऐसे ढंग से कहा जाए कि वे संक्षिप्त स्वर से कुछ बड़ी हो जाएँ। उनमें घटनाक्रम के अधिक विस्तृत बनाने में कल्पना का अधिक सहारा लिया जाए। कहानी जिन परिस्थितियों में होकर गुजरी, उसके दृश्य घटनाक्रम, संभावनाएँ, आशंकाएँ, संवाद आदि को गढ़ा जा सकता है और उसे भीवनात्मक उतार-चढ़ावों के साथ कहा जा सकता है। यह एक छोटे उपन्यास के सृजन का अभ्यास

भी कहा जा सकता है और वर्णात्मक व्याख्यान का सम्मिश्रण भी। बच्चों के द्वारा अयोग्य ठहराये जाने या उपहासास्पद घोषित किए जाने की भी आशंका नहीं होती। ऐसी दशा में भाषण का ढर्रा अच्छी तरह चल सकता है।

देखा गया है कि कथावाचक लोग घंटों पुराण गाथा बिना थके पढ़ते रहते हैं, इसका कारण यह है कि घटनाओं का सहारा लेकर वर्णनात्मक शैली से देर तक कुछ भी कहा जा सकता है। दबाव विचारात्मक, भावनात्मक और समीक्षात्मक प्रवचनों को प्रस्तुत करते हुए पड़ता है। वाणी में प्रवाह निखरा न हो, मस्तिष्क की भीड़ से घबराने की फिक्र छूटी न हो, विचार प्रवाह और वाणी की गति का तालमेल संतुलित न हो, तो भाषण लड़खड़ायेगा और वक्ता असमंजस में पड़ जाएगा। इसी परिस्थिति में विचार समीक्षा का कठिन उत्तरदायित्व सिर पर और आ पड़े, तो उस भार को वहन करने में कठिनाई उत्पन्न होगी। इसलिए उचित यही है कि नौसिखिये वक्ता अपने छोटे प्रवचन में कुछ कथाएँ, दृष्टान्त, संस्मरण, घटनाक्रम जोड़कर रखें। विचारक्रम और वर्णन अधिक हो, तो मस्तिष्क पर दबाव कम पड़ेगा और वाणी निर्धारित आधार के सहारे सीधी सड़क पर लुढ़कती चली जायेगी। वक्तृता कठिन न लगेगी। बच्चों से आरम्भ किया अभ्यास बड़ों तक आगे बढ़ाया जा सकता है। रामायण कथा आदि कहने लगने में लोगों की धार्मिक रुचि को भी संतोष होता है, पुण्य लाभ की बात भी सोची जा सकती है; भाषण के अभ्यास का लाभ तो प्रत्यक्ष है ही।

छोटे प्रवचन, थोड़े समय के व्याख्यान से लाभ यह है कि वह ठीक बन जाता है, तो अपना आत्मविश्वास बढ़ता है। साइकिल चलाने में आरम्भ के दिनों हाथ और पैर लड़खड़ाते हैं और गिरने के

अवसर आते हैं; पर ऐसी कठिनाई डरने-झिझकने वालों को ही अधिक आती है। जो निर्भय होकर संतुलित मस्तिष्क रखकर सीखते हैं, उनके लिए वह बहुत ही मामूली और बहुत ही सरल अभ्यास है। उन्हें एक बार भी नहीं गिरना पड़ता है और एक-दो दिन में ही सवारी करने लगते हैं। इस सफलता में मानसिक संतुलन का ही योगदान अधिक रहता है। अन्य कोई बुद्धिमत्ता, क्रिया-कुशलता आदि ऐसी बात नहीं होती, जिसे सौभाग्य, रहस्य या अद्भुत कहा जा सके। भाषण के सम्बन्ध में भी ठीक यही बात कही जा सकती है। उसमें जो कुछ सीखना, साधना है, वह एक शब्द में मानसिक संतुलन ही कहा जा सकता है। वक्तृता की सफलता में जितनी देर लगती है, कठिनाई प्रतीत होती है, उसे मस्तिष्कीय अव्यवस्था के अतिरिक्त और कुछ नहीं कहा जा सकता। अभ्यासी को इसी कठिनाई पर विजय प्राप्त करने के लिए अपने आपसे, असंतुलन से लड़ना चाहिए।

घर में मित्रों से जिस प्रकार वार्तालाप किया जाता है, वैसी निःसंकोच मनःस्थिति में यदि उपस्थित जन-समुदाय के सम्मुख अपनी बात रखने का साहस जुटा लिया जाए, तो समझना चाहिए कि अवरोध समाप्त हो गया और प्रवेश द्वार खुल गया; अब उस पर कला का आवरण चढ़ना शेष है। इसके लिए अध्ययनशील बनने की-तथ्य, तर्क, प्रमाण, उदाहरण एकत्रित करने की आवश्यकता पड़ती है। त्रुटियों को ढूँढ़ना, उनको दूर करना, विशेषताओं को उपलब्ध करना और उन्हें अभ्यास-उपयोग में लाना, प्रत्येक कलाकार की सदा बनी रहने वाली आवश्यकता है। वे इसी रीति-नीति को अपनाकर अपने शिल्प में प्रगति करते हैं-प्रवीण बनते हैं। वक्तृत्व कला अन्य सभी कलाओं से अधिक प्रभावपूर्ण एवं सत्परिणाम

प्रस्तुत करने वाली है। इसलिए उसे निखारने के लिए सदैव प्रयत्नशील रहना पड़ता है। जो वक्ता अपनी थोड़ी-सी कुशलता पर संतुष्ट होकर बैठ जाए, अधिक परिष्कृत स्थिति प्राप्त करने का प्रयत्न छोड़ बैठे, समझना चाहिए कि उसके उज्ज्वल भविष्य की संभावनाएँ समाप्त हो गईं। जहाँ वह इस समय है, उससे आगे नहीं बढ़ेगा, पीछे ही हटेगा। मस्तिष्क का विस्मरण क्रम तो अनायास ही चलता रहता है। स्मरण के लिए और निखार के लिए नये आधार ढूँढ़ने पड़ते हैं। यदि उस ओर उपेक्षा बरती गई, तो यथास्थिति भी नहीं रहेगी-अवनति की ओर ही लौटना पड़ेगा। धैर्यपूर्वक, दृढ़ निश्चय के साथ अभ्यास करना और क्रमिक प्रगति से निराश न होकर पूर्ण विश्वास के साथ लम्बे समय तक प्रयत्न करने की बातें सोचकर उसमें लगे रहना किसी भी व्यक्ति को देर-सबेर वक्ता बना देगा।

प्रवीणता की स्थिति तक पहुँचने के लिए सदा-सर्वदा अनवरत अभ्यास की आवश्यकता पड़ती है। उपयुक्त सफलता प्राप्त करने के लिए प्रतीक्षा करनी पड़ती है। हथेली पर सरसों जमाने की उतावली कभी फलित नहीं होती। इस हाथ प्रयत्न, उस हाथ सफलता चाहने वाले लोगों का उत्साह पानी के बुलबुले की तरह उठता और नष्ट होता देखा जाता है। किसान को फसल काटने के लिए लगातार छः महीने मेहनत और प्रतीक्षा करनी पड़ती है। विद्यार्थी स्कूल में प्रवेश पाने के दूसरे दिन ही स्नातक कहाँ बन जाता है? इसके लिए उसे १२ वर्ष के एक युग तक साधना करनी पड़ती है। डॉक्टर, इन्जीनियर, प्रोफेसर, कलाकार आदि किसी से भी पूछकर देखा जा सकता है कि उन्हें प्रयास आरम्भ करने के दिन ही पूर्णता प्राप्त हो गई या उन्हें बिना उत्साह घटाये दीर्घकालीन साधना करनी पड़ी? वे लोग बतायेंगे कि कितनी असफलताओं का मुँह देखते हुए, कितना परिश्रम करते

हुए, कितने दिन पश्चात् सफलता की स्थिति तक पहुँचने का अवसर मिला। भाषण कला भी एक उच्चकोटि का कौशल है। उसकी सफलता सहज नहीं, श्रम साध्य है। उतावले लोग जिस काम में भी हाथ डालते हैं, उसमें आतुर आरम्भ और आतुर अन्त का ढेर लगाते चलते हैं। उनके जीवन में असफलताओं का इतिहास जुड़ा होता है। यदि प्रवचन के लिए वे उत्सुकता प्रकट करें, तो आतुरता उस क्षेत्र में भी उन्हें असफल ही रखेगी। लम्बी मंजिलें एक-एक कदम चलते हुए, एक के बाद एक मील पार करते हुए ही पूरी होती हैं। भाषणकला में दक्षता प्राप्त करने का लक्ष्य भी इसी क्रम से पूरा करना पड़ता है। बहुत दिन तक, बिना हिम्मत हारे, हर दिन त्रुटियों को देखने-समझने और सुधार करने की नीति अपनाये बिना इस क्षेत्र में भी किसी को अनायास सफलता की आशा नहीं करनी चाहिए।



वक्तृ को अध्ययनशील होना चाहिए

भाषण वस्तुतः एक शोध-प्रबन्ध है। उसकी पूर्व तैयारी की जानी चाहिए और आदि से अन्त तक के विषय निर्वाह का ढाँचा बहुत ही दूरदर्शिता से बनाया जाना चाहिए। जिन लोगों ने पी.एच.डी. के लिए थीसिस तैयार किये हों, उनसे पूछना चाहिए कि वे भूमिका प्रतिपादन, तथ्य, प्रमाण, तर्क समीक्षा से लेकर उपसंहार तक के निर्वाह करने के लिए किस प्रकार आरम्भिक ढाँचा खड़ा करते हैं, सामग्री जुटाते हैं, रफ कॉपी बनाते हैं और फिर कैसे उसे 'फेयर करके' निबन्ध को जाँचने वालों के सामने प्रस्तुत करते हैं। भाषण की तैयारी इससे कम नहीं होनी चाहिए। उसमें इतनी सारगर्भित सामग्री रहनी चाहिए कि सुनने वाले को अपने समय की सार्थकता अनुभव हो सके।

निबन्ध रचना में उसका क्रम निर्धारण करना पड़ता है। प्रथम चरण में भूमिका होती है—प्रतिपाद्य विषय की उपयोगिता, महत्ता बताई जाती है, ताकि पढ़ने वाले को वह प्रयत्न आवश्यक एवं महत्त्वपूर्ण प्रतीत हो। इसके बाद पक्ष के समर्थन में जितने अधिक तर्क, तथ्य, प्रमाण, उदाहरण प्रस्तुत किये जा सकते हों, उन्हें क्रमबद्ध रूप में रखना पड़ता है। प्रस्तुत विषय के प्रतिपक्ष अथवा समानान्तर रूप में जो बातें कही जाती रही हैं, उसका समाधान बताना पड़ता है और प्रतिपक्षियों की तुलना में अपनी बात को अधिक खोजपूर्ण, तर्कसंगत, प्रामाणिक एवं सामाजिक सिद्ध करना पड़ता है। निबन्ध के अंतिम भाग में उपसंहार के साथ निष्कर्ष बताना पड़ता है। पाठक पर छाप छोड़नी पड़ती है कि लेखक ने पाठक को अधिक मात्रा में अधिक उपयोगी जानकारी देने का प्रयत्न किया और उसे अपेक्षाकृत

अधिक सही परिणाम पर पहुँचने में सहायता दी है। शोध प्रबन्ध का आरम्भिक ढाँचा इसी आधार पर कई खण्डों में विभाजित करके खड़ा करना पड़ता है और उनमें से प्रत्येक के लिए ऐसी सामग्री जुटानी पड़ती है, जिसे श्रम साध्य एवं सूझबूझ युक्त कहा जा सके। परीक्षक उस प्रयत्न को इस दृष्टि से परखते हैं कि लेखक ने कितनी गहराई में उतरने और कितने तथ्य संकलित करने में कितना, किस स्तर का परिश्रम किया है। इसी कसौटी पर निबन्ध परखे जाते हैं; और जो खरे उतरते हैं, उन्हें विश्वविद्यालय द्वारा 'डाक्टरेट' की उपाधि से अलंकृत किया जाता है।

सारगर्भित वक्तृता के लिए समय से पूर्व इसी स्तर की तैयारी करनी पड़ती है। जनता को परीक्षक मानकर चलना चाहिए और उसके सामने अपना गम्भीर अध्ययन, पैना मनोयोग, तथ्य खोजने पर किया गया श्रम, क्रमबद्ध रूप में प्रतिपादन, भाषा-शैली का प्रवाह आदि को ऐसा बनाकर उपस्थित करना चाहिए, जिनमें वह अनुत्तीर्ण न ठहराया जा सके।

वक्ता को अध्ययनशील होना चाहिए। अपने विषय में उसका जितना अधिक अध्ययन होगा, उतनी गहराई और प्रामाणिकता बढ़ती चली जाएगी। सभी मनुष्यों में विस्मृति का रोग थोड़ी-बहुत मात्रा में पाया ही जाता है। एक बार जो पढ़ा था, वह सदा याद नहीं रहता। ज्ञान अनन्त है। छोटे विषय को लेकर चला जाए, तो भी उसका विस्तार इतना अधिक होता है कि नई-नई जानकारीयाँ मिलती ही चली जायेंगी। जिसके पास पूँजी है, वही दूसरों को कुछ दे सकेगा। ग्राहक ऐसे बजाज के पास जाते हैं जिनके पास कई डिजाइन के, कई कीमत के कपड़े देखने और चुनने को मिल सकें। वक्ता से भी श्रोता सर्वविदित मोटी बातों की अपेक्षा कुछ और गहरी नई बातें

जानने की अपेक्षा करते हैं। ऐसी सामग्री केवल अध्ययनशील लोग ही जुटा सकते हैं।

सीखने की जिज्ञासा से प्रेरित होकर मनुष्य ज्ञान स्रोतों की तलाश करता है। इस मार्ग पर चलने वालों को खाली हाथ नहीं रहना पड़ता। वे कुछ न कुछ निरन्तर प्राप्त करते हुए अपनी ज्ञान सम्पदा बढ़ाते रहते हैं। "बूँद-बूँद से घड़ा भरता है।" "कन-कन जोड़ने से मन जुड़ता है"-इन उक्तियों में यही संकेत है कि खोजने और पाने के प्रयत्नों में लगा हुआ व्यक्ति धीरे-धीरे अपने विषय में समृद्ध, सुसम्पन्न बनता जाता है। जन्म से ही कोई विद्वान् नहीं होता। सतत प्रयत्न से ही, मधुमक्खियों की तरह ही ज्ञान की पूँजी बढ़ाई जाती है। वक्ता का गौरव उसकी ज्ञान-सम्पदा में है। अल्पज्ञ व्यक्ति गिनी-चुनी बातों को रटे-रटाये शब्दों में दुहराता रह सकता है। हर स्थिति-हर व्यक्ति के लिए जिन अलग-अलग संदर्भों के सहारे अपनी बात कहनी चाहिए उसका भण्डार तो उन्हीं के पास मिलेगा, जिन्होंने अध्ययन, मनन-चिन्तन से अपने विचार-भण्डार को समृद्ध बनाया है। अध्ययनशील ही विद्वान् बनते हैं और जो विद्यावान् हैं, वे ही सुनने वालों पर अपनी छाप छोड़ते हैं। विचारशीलों का सदा यही मत रहा है और उन्होंने गम्भीर अध्ययन में रुचि लेने के लिए हर प्रगतिशील को परामर्श दिया है।

टालस्टाय कहते थे-"बुद्धिमान् अपने अनुभवों की अपेक्षा अन्य बुद्धिमानों के अनुभवों से अधिक सीखता है। विचारशीलों के अनुभव हमारा मार्गदर्शन करने को आसानी से उपलब्ध हो सकते हैं।"

जोसेफ एडीसन ने लिखा है-"मस्तिष्कीय विकास के लिए अध्ययन की उतनी ही आवश्यकता है, जितनी शरीर को व्यायाम की।"

सिसरो का कथन है—“प्रकृतिगत अनुभव संग्रह करने की अपेक्षा अध्ययन के द्वारा अधिक व्यक्ति महान् बने हैं।”

मोण्टेन्यू की उक्ति है—“पढ़ने से सस्ता और कोई मनोरंजन नहीं और न उसके बराबर कोई प्रसन्नता उतनी स्थायी है।”

बर्नार्ड शॉ ने अध्ययन की अरुचि और उथलेपन पर दुःख व्यक्त करते हुए कहा था—‘आज पढ़ने के शौकीन तो बहुत हैं; पर यह नहीं जानते कि क्या-क्यों और कैसे पढ़ना चाहिए।’

हर वक्ता का अपना एक लक्ष्य और विषय होना चाहिए। यह विशेषज्ञों, निष्णातों और पारंगतों का जमाना है। लोग किसी भी क्षेत्र में मूर्धन्य की, ‘ए वन’ की तलाश में रहते हैं। अल्पज्ञों की कहीं पूछ नहीं। क्या डॉक्टर, क्या वकील, क्या इंजीनियर; सभी क्षेत्रों में विशेषज्ञ ढूँढ़े जाते हैं, ताकि भले ही खर्च थोड़ा अधिक पड़ जाए, पर काम अच्छी तरह सुयोग्य हाथों से पूरा हो सके। यही बात वक्ता के सम्बन्ध में भी है। कोई व्यक्ति अनेक विषयों में पारंगत नहीं हो सकता। विशेषज्ञता एकाध विषय में ही प्राप्त की जा सकती है। इसलिए हर विषय में टाँग अड़ाने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए। हर स्तर के भाषण प्रवीण स्तर पर दे सकना कठिन है। अपनी रुचि का विषय चुनना चाहिए। उसी विषय पर अधिकाधिक अध्ययन, चिन्तन, मनन और तद्विषयक विद्वानों से विचार-विमर्श करना चाहिए। इस तरह अपनी ज्ञान परिधि बढ़ती जाती है और उसी अनुपात से भाषणों का स्तर वजनदार होता चला जाता है।

कोई इमारत, पुल आदि बनाने से पूर्व इंजीनियर लोग उस पूरी योजना के नक्शे बनाते हैं। लोहा, सीमेण्ट, ईंट, पत्थर, लकड़ी आदि कितनी-कहाँ लगेगी, उसके लगाने में राज मजदूर, ओवरसीयर आदि को कितनी संख्या में—कब लगाना पड़ेगा, सामान ढोने के लिए

हुलाई की सुविधाएँ किस क्रम से कितनी जुटानी पड़ेंगी, इन सारी बातों की पहले ही भली प्रकार कल्पना कर ली जाती है। लागत और समय का अनुमान लगा लिया जाता है। इसके बाद आवश्यक साधन जुटाये जाते हैं और फिर उस इमारत का बनना आरम्भ होता है। अभीष्ट उद्देश्य की पूर्ति वे इसी प्रकार कर पाते हैं। किसान को फसल कमाने में बीज, खाद, पानी, जुताई, निराई, रखवाली आदि की पूरी योजना बनानी पड़ती है। इंजीनियर की तरह सुविकसित न होने के कारण वह नक्शे और बजट कागज पर तो नहीं लिख पाता, पर मस्तिष्क में सारी कल्पना पूरी कर लेता है। ठीक इसी प्रकार भाषण की रूपरेखा तैयार करने में कुशल वक्ता को तैयारी करनी पड़ती है।

जिम्मेदारी अनुभव करने वाले वक्ता का स्तर बिल्कुल इंजीनियर, किसान, विवाह आयोजन करने वाले लोगों जैसा है। हर नये काम के लिए नई योजना और नई व्यवस्था सोचनी और बनानी पड़ती है। हर भाषण नया होता है, क्योंकि जन-समुदाय हर जगह एक ही नहीं होता। उसके स्तर बदलते हैं, तदनुकूल वक्ता को निर्धारित विषय की शैली में परिवर्तन करना पड़ता है। श्रोताओं की स्थिति को न समझते हुए, समयानुसार बदलती रहने वाली परिस्थितियों और घटनाओं का उल्लेख करते हुए नवीनता युक्त बोलना पड़ता है। यदि वह कुछ रटे-रटाये शब्द और तथ्य याद कर ले और उन्हीं को हर जगह एक ही तरह दुहराता रहे, तो उसे तोता रटन्त भर कहा जायेगा। व्युत्पन्नेमति वक्ता सदा लकीर नहीं पीटते, उनकी मौलिक प्रतिभा समय प्रवाह और जन-समुदाय का तालमेल बिठाते हुए पुराने तथ्यों को भी नया बना देती है। बासी और ताजी रोटी के स्वाद और गुण में क्या अन्तर होता है? इसे हर खाने वाला जानता है।

सुगृहणी अपनी रसोई में नित नवीनता लाने के लिए, ताजगी का आनन्द खाने वालों को देने के लिए कुछ न कुछ सोचती और करती रहती है। इसी में उसकी प्रशंसा है। एक ही दाल की दाल और रोटी महीनों-वर्षों चलती रहे; एक दिन बनाकर दस दिन का झंझट छुड़ा लें, तो उस बेगार भुगतने में बनाने का नित नया झंझट भले ही न उठाना पड़े, पर भोजन का सारा आनन्द ही चला जायेगा। परिवर्तन प्रिय मनुष्य का स्वभाव सहज ही कुछ न कुछ नवीनता चाहता है। जहाँ कुशलता है, वहाँ वैसा बन पड़ना भी कुछ कठिन नहीं है।

सभा मंच पर जाने से पूर्व मनोयोग के साथ वक्ता को अपना भाषण तैयार करना चाहिए। उनमें नवीनतम घटनाक्रमों और तथ्यों का समावेश होना चाहिए। घिसी-पिटी अनेक बार कही-दुहराई गई बातें चाहे कितनी ही सही क्यों न हों, सदा उन्हें ही ग्रामोफोन के रिकॉर्ड की तरह दुहराते रहना सुनने वालों को अरुचिकर हो जाता है। पिसे को पीसते रहना, कहे को कहते रहना कुशल वक्ता का चिह्न नहीं है। कई व्यक्ति कुछ भाषण रट लेते हैं और उन्हीं बातों को उलट-पुलटकर कहते रहते हैं, मानो इसके अतिरिक्त और कोई तथ्य रहे ही नहीं, मानो इसी तोता रटन्त के सिवाय और किसी ढंग से उन बातों का समर्थन हो ही नहीं सकता। अधिकतर वक्ता तोता रटन्त ही रहते हैं। इससे सहज ही यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि वक्ता में चिन्तन, मनन एवं अध्ययन का अभाव है। उसे और कुछ ढूँढ़ने-जानने की आवश्यकता अनुभव नहीं होती। उसने अपने सीमित ज्ञान को ही परिपूर्ण मान लिया है और उससे आगे की जानकारी प्राप्त करने में उसकी रुचि नहीं रही; यह बुरी बात है। इससे वक्ताओं का गौरव बढ़ता नहीं, घटता ही है।

वक्ता का प्रतिपाद्य विषय भले ही एक सीमित क्षेत्र का हो,

पर तथ्य और प्रमाण तो उतने दायरे में भी अगणित मिल सकते हैं। उसी विषय पर हर दिन नये तथ्य प्रस्तुत करते हुए प्रवचन की शृंखला चिरकाल तक चलाई जा सकती है और सुनने वालों को अपने अगाध ज्ञान से चमत्कृत किया जा सकता है; पर यह सम्भव तभी है, जब अध्ययन में अपनी गहरी रुचि हो और नये तथ्य, नये आधार, नये तर्क, नये प्रमाण, नये उदाहरण ढूँढ़ निकालने के लिए गहरी जिज्ञासा उठती रहे। संसार में ज्ञान का अगाध समुद्र भरा पड़ा है। किसी छोटे से विषय पर भी इतनी अधिक सामग्री मिल सकती है कि उसे ढूँढ़ते रहने में एक पूरा जीवन भी कम प्रतीत हो। ऐसी दशा में यह सोचना उचित नहीं कि जो हमने जाना है, उससे अधिक और कुछ नहीं है। जो हम कहते-बोलते रहे हैं, वही पर्याप्त है।

मनुष्य का स्वभाव नवीनता प्रिय है। कोई कितनी ही आकर्षक फिल्म क्यों न हो, गाना कोई कितना ही मधुर क्यों न हो, उसे देखने-सुनने में जो आकर्षण आरम्भ में रहता है, वह पीछे नहीं रहता। क्रमशः वह घटता जाता है और स्थिति यहाँ तक पहुँच जाती है कि उसे देखने-सुनने में तनिक भी उत्साह नहीं रहता। नवीनता के लिए भोजन-वस्त्रों में परिवर्तन करने की आवश्यकता अनुभव की जाती रहती है। गंगा भले ही एक दिशा में बड़े; पर उसमें लहरें, भँवर, उछाल उत्पन्न होते रहते हैं। तभी उसका सुन्दर दृश्य देखते रहने को मन करता है। ज्वार-भाटे ही समुद्र की शोभा बढ़ाते हैं। एक बात को भिन्न-भिन्न स्थानों पर कहने पर ही वक्ता का औचित्य हो सकता है। यदि सुन चुके लोगों को पुनः वही बात उसी ढंग से सुनाई जायेगी, तो निश्चय ही अरुचि उत्पन्न होगी, भले ही वह उपयुक्त और आवश्यक क्यों हो। यदि लगातार उसी विषय को सिखाना-सुनाना अभीष्ट हो, तो भी उसके प्रतिपादन में नये तथ्यों और नये उदाहरणों का समावेश किया जाना चाहिए। पर वह संभव तभी हो सकता है, जब वक्ता

अध्ययनशील हो, उसमें खोज करने की आकांक्षा हो। पूछते और पढ़ते-सुनते रहने से ज्ञान वृद्धि होती है। अच्छे वक्ता अहंकारी नहीं होते, वरन् सदा जिज्ञासु और विद्यार्थी बने रहकर अपनी ज्ञान-सम्पदा बढ़ाते रहते हैं। मधुमक्खियाँ मधु संचय का अपना कार्य निरन्तर जारी रखकर ही अपने छत्ते में हर किसी को ललचाने लायक शहद जमा कर पाती हैं। अच्छे वक्ता अपना स्तर ऊँचा रखना चाहते हैं, इसलिए वे अपने पास अधिकाधिक तथ्य जमा करने का प्रयास सदैव जारी रखते हैं।

हर वक्तृता से पूर्व उसकी योजना बनानी चाहिए। यदि अभ्यस्त तथ्य है, तो परिस्थिति और उपस्थिति में जो हेर-फेर हुए हों, उनका समावेश करते हुए-भाषण में नवीनता लानी चाहिए। उसके क्रम में हेर-फेर करना चाहिए, अन्यथा नई जनता को आभास भले ही न हो साथी तो यह अनुमान लगा ही लेंगे कि वक्ता में मौलिक प्रतिभा का अभाव है।

आरम्भ, मध्य और अन्त किस प्रकार हो, तथ्यों को किस क्रम से उपस्थित किया जाये, किस तर्क का कहाँ समावेश किया जाए, उदाहरणों, घटनाओं, संस्मरणों का समावेश किस प्रसंग में किन शब्दों में किया जाए, प्रतिपक्षी मान्यताओं और तर्कों का निराकरण किन तर्कों और प्रमाणों के साथ किया जाए, अन्त में उपसंहार का स्वरूप क्या हो आदि बातें पैनी कल्पना के आधार पर और कई बार उलट-पुलट करके देखने, सोचने से अच्छी चीज बनकर सामने आ जाती है। आवश्यक नहीं कि एक ही बार कुछ ही देर में प्रथम कल्पना को ही पर्याप्त मानकर, काम को जल्दी-जल्दी निपटा दिया जाए। कई-कई विकल्पों के साथ कई तरह से भाषण की रूपरेखा बनानी चाहिए और फिर उसमें से काट-छाँटकर, जोड़-गाँठकर-

संशोधित-परिमार्जित योजना पास करनी चाहिए।

संभव है, इसमें एकाध घण्टा या ज्यादा समय लग जाए। सोचने, ढूँढ़ने या पूछने में देर लगे और मस्तिष्क को गहराई में उतरना पड़े; किन्तु यह अनिवार्य रूप से आवश्यक है। इस समय को बचाने की बात सोचना अपने भाषण और गौरव को गिराने की तैयारी करना है। यह आलस्य या अभिमान हर वक्ता को बहुत महँगा पड़ता है। "हमें सब ज्ञात है। समय पर हर बात हमें याद आ जाती है।" ऐसा अहंकार तो बहुत लोग करते हैं, पर वस्तुतः ऐसी असाधारण व्युत्पन्नमति किसी-किसी की ही होती है। यदि होती भी है, तो इसका कारण चिरकालीन वह अभ्यास रहा होता है, जो उसने आरम्भ के दिनों में योजनाबद्ध बोलने की तैयारी के रूप में किया था। इस प्रकार का परिश्रम मस्तिष्क के भोथरेपन पर शान चढ़ाने और उसकी धार तेज करने में सहायक होता है। उस्तरा तभी तेज रहता है, जब बार-बार उसकी धार बनाई जाती रहे। एक बार धार चढ़ाकर जो महीने के लिए निश्चित हो जाना चाहता है, वह नाई अपने ग्राहकों का कोपभाजन बनेगा। घिसी-पिटी बातें दुहराने वाले वक्ता न केवल अपनी प्रभावोत्पादक क्षमता खो बैठते हैं, वरन् मानसिक आलस्य को प्रश्रय देते रहने के कारण कुशाग्र बुद्धि की विशेषता से भी वंचित होते चले जाते हैं। यह गिरावट वक्ता की अपने कार्य एवं उत्तरदायित्व के प्रति उपेक्षा बरतने जैसी है, जिसके कारण उसे बहुत घाटे में रहना पड़ता है। वह जो कर सकता था, बन सकता था, उसमें बहुत कम सफलता ही पल्ले पड़ती है।

अध्ययनशील व्यक्ति लेखन-शैलियों को समझते, शब्द विन्यास के गठन क्रम पर ध्यान देते हैं। उन्हें वैसा बहुत कुछ हाथ लगता रहता है, जिसके सहारे वे अपनी वक्तृता को विद्वत्ता की छाप

छोड़ने वाली बना सकें। यह तो शैली, शब्द विन्यास को सही करने की बात हुई। अपनी वक्तृता के विषयों पर जानकारीयाँ देने वाले तर्क, तथ्य, प्रमाण, उदाहरण प्रस्तुत करने वाले साहित्य का संग्रह करना चाहिए और उसे कई शोध दृष्टियों से पढ़ना चाहिए, उन्हें नोट करना चाहिए। स्मृति पटल पर अच्छी तरह उन बातों को जमाने के लिए बार-बार दुहराना चाहिए। उपेक्षा या मनोरंजन की हल्की दृष्टि रखकर जो कुछ पढ़ा जायेगा, वह साथ का साथ ही विस्मृत होता चलेगा। भले ही थोड़ा, पर अधिक गहरा अध्ययन क्रम ही वक्ता की बहुमूल्य सम्पदा सिद्ध होता है।

शब्दों का सुगठन और लालित्य उसी के प्रवचन में रह सकता है, जिसने बहुतों का लिखा हुआ बहुत पढ़ा है। किन्तु शब्दों का किस प्रकार गुंथन करने से किन्तु अभिव्यक्तियों को, किस प्रकार, किस हद तक प्रकट किया जा सकता है, यह कला-कुशलता विशाल और सूक्ष्म दृष्टि रखकर किये गये अध्ययन से ही उपलब्ध हो सकती है। अशिक्षित या अल्प शिक्षित इस विशेषता से सम्पन्न नहीं हो सकते। लेखन शैलियाँ भी एक प्रकार से भाषण शैलियाँ ही हैं; अन्तर इतना ही है कि भाषण में मुँह से बोलकर और लेखन में कल्पना का सहारा लेकर अपने विचार दूसरों के सम्मुख प्रस्तुत किये जाते हैं। लेखक को भी अपने ढंग से एक वक्ता ही माना जायेगा। लेखन शैली और भाषण शैली का मूल स्वरूप एक है। प्रत्यक्ष में ही इसके दो भिन्न स्वरूप दिखाई पड़ते हैं।

वक्ता को ऐसी नोट बुक सदा साथ रखनी चाहिए, जिसमें कभी कहीं से अपने विषय से संबद्ध उपयोगी बात सुनने, पढ़ने को मिले, तो उसे नोट किया जा सके। ऐसे प्रसंग अक्सर सामने आते रहते हैं, जो बड़े मार्मिक होते हैं। सुनते-पढ़ते समय बड़े मसन्द आये

थे; पीछे वे विस्मृत हो गये। उपलब्ध ज्ञान-सम्पदा का सदा संचय किया जाता रहे, इसके लिए वह नोटबुक बड़े काम की होती है, जिसमें उपयोगी तथ्य अंकित किये जाते रहें। उन्हें पढ़ते, दुहराते रहकर अपनी स्मृति सजीव रखी जा सकती है। महादेव भाई, महात्मा गाँधी आदि की डायरियाँ प्रकाशित हुई हैं, उनमें बहुत-सी काम की बातें हैं। वक्ता के लिए तो यह और भी आवश्यक है कि अपने कथन को अधिक मार्मिक बनाने के लिये उपयोगी तर्क, तथ्य, संस्मरण, प्रसंग, संदर्भ आदि जहाँ भी मिलें वहाँ से नोट करता रहे।

अपने प्रतिपादन विषय के विपक्ष में जो कहा जाता रहा है उसकी जानकारी भी होनी चाहिए और उसके खण्डन के लिए तथ्यपूर्ण तर्क एकत्रित करते रहने चाहिए। जहाँ अपने पक्ष के समर्थन में कहा जाए वहाँ प्रतिपक्ष की मान्यताओं का निराकरण करने की बात को भी ध्यान में रखा जाए, अन्यथा बात आधी-अधूरी रह जायेगी। मण्डन और खण्डन का तारतम्य जहाँ उपयुक्त होता है, वहाँ नमक और शक्कर के स्वादों की रसोई की तरह वक्तृता भी खिल पड़ती है। मात्र खण्डन या मात्र मण्डन एकांगी नीरस एवं अरुचिकर प्रतीत होते हैं।

जिस विषय पर अध्ययन कम है, उस पर थोड़ी-सी घिसी-पिटी बातें ही कही जा सकती हैं। कई दिन तक लगातार बोलना अल्प अध्ययन वाले लोगों के लिए संभव नहीं होता। अलग स्थान पर अलग लोगों के बीच में एक बात को दुहराने से भी काम चल जाता है; पर यदि लगातार एक ही स्थान पर, एक ही लोगों के बीच बोलना पड़े, तो अल्पज्ञ वक्ता की पोल खुल जाती है और वह बहाना बनाकर खिसकने लगता है। एक ही विषय के अनेक पक्ष होते हैं। प्रत्येक पक्ष पर कई दृष्टिकोणों से प्रकाश डाला जा सकता है। इस

प्रकार एक छोटे विषय के भी अनेकों विभाग हो सकते हैं। यदि वक्ता का अध्ययन विशाल है, तो वह अपने मूल विषय से बिना उखड़े, बिना इधर-उधर ताक-झाँक किये, उसी संदर्भ में बहुत समय तक बोलता रह सकता है। यदि एक दिन ही बोलना हो, तो भी अनेकों संदर्भों का समन्वय करते हुए कही गई बात बहुत ही आकर्षक और प्रभावोत्पादक बन जाती है। भाषण वाणी की वाचलता का, शब्दोच्चार का नाम ही नहीं है, उसमें विशेषज्ञ स्तर की जानकारीयों का समावेश भी होना चाहिए। इसी से वक्ता की ज्ञान गरिमा और चिन्तन की गहराई का पता चलता है।

जो बोलना है, उसमें क्रमबद्धता रहनी चाहिये। आरम्भ में क्या, इसके बाद क्या-यह पूरा ढाँचा शुरू में ही बना लिया जाना चाहिए, अन्यथा स्मरण शक्ति की गड़बड़ी से अन्त में कही जाने वाली बातें आरंभ में ही, आरंभ की अन्त में कह दी जायेंगी। असंबद्धता का यह व्यतिक्रम अटपटा और उपहासास्पद लगेगा। कितनी ही बातें समय पर याद नहीं आयेंगी और पीछे पश्चात्ताप होगा कि कितनी महत्त्व की बातें कहने से छूट गई। ऐसे असमंजस में उन्हीं को पड़ना पड़ता है, जो बिना तैयारी के बोलने को खड़े हो जाते हैं। यदि आरम्भ में ही क्रम निर्धारित कर लिया गया होता, तो आसानी से प्रवाह बहता चला जाता और संतुलन की समस्वरता हाथ से निकल जाने का पश्चात्ताप न करना पड़ता।

सफल वकील वे माने जाते हैं, जो अदालत में जाने से पूर्व अपने विषय का पूरा अध्ययन करके और प्रस्तुत किये जाने योग्य तथ्यों को तैयार करके साथ ले जाते हैं। इसके लिए उन्हें कानून की कितनी ही पुस्तकें पलटनी पड़ती हैं, व्याख्याएँ ढूँढ़नी पड़ती हैं, हाईकोर्टों के फैसलों की नजीरें इकट्ठी करनी पड़ती हैं। वादी और

प्रतिवादी के कथनों को, पुलिस की रिपोर्टों को, गवाहों द्वारा कही गई बातों को, इस बारीकी से समझना पड़ता है कि अपने पक्ष समर्थन के लिए काफी सामग्री मिल जाये। यह श्रम, प्रयास एवं मनोयोग ही मुकदमा जीतने का कारण बनता है। उसी से वकील की ख्याति और आमदनी बढ़ती है। जो वकील इस परिश्रम और मनोयोग की उपेक्षा करेगा, उसकी वकालत ठप्प होती, आमदनी घटती और इज्जत गिरती चली जायेगी।

कुशल प्रोफेसर दूसरे दिन अपनी क्लास पढ़ाने के लिए एक दिन पहले तैयारी करते हैं। जो पढ़ाया जाना है, उसके लिए आवश्यक तथ्य ढूँढ़ते और नोट करते हैं। यह सामग्री जितनी अधिक और जितनी उच्चकोटि की होती है, उसी अनुपात से पढ़ने वाले छात्र प्रभावित होते हैं, प्रोफेसर की इज्जत करते हैं और अच्छे नम्बरों से उत्तीर्ण होते हैं। यदि तथ्यपूर्ण सामग्री ढूँढ़ने और नोट करने में उपेक्षा की गई और ऐसे ही आधी-अधूरी स्मृति के आधार पर कुछ भी पढ़ाते चलने की सस्ती रीति अपना ली गई, तो फिर उस हरामखोरी को हर एक छात्र ताड़ लेगा। वह सामने कुछ कहे न कहे पर मन में यही सोचता रहेगा कि पढ़ाने के नाम पर लकीर पीटी जा रही है और हमारा समय नष्ट किया जा रहा है।

सुविकसित देशों में प्रायः ४५ मिनट का पूर्ण भाषण माना जाता है। कुशल वक्ता इतने ही समय में इतने तथ्य प्रस्तुत करते हैं, जिससे सुनने वालों को उतना समय खर्च करना सार्थक प्रतीत हो। अपने देश में तो 'ठलुआ' लोग बहुत हैं। कुछ लोग समय काटने एवं कौतूहलवश ही सभा-सम्मेलनों में जा पहुँचते हैं और ऐसे ही ज्यों-त्यों करके सुनते रहते हैं; पर प्रगतिशील देशों में ऐसा नहीं होता। वहाँ हर व्यक्ति व्यस्त है, हर किसी को अपना समय बहुमूल्य प्रतीत

होता है। भाषण सुनने भी लोग कुछ पाने की दृष्टि से जाते हैं। वहाँ खुले मैदान में नहीं, इसी प्रयोजन के लिए बने हॉलों में प्रवचन की व्यवस्था होती है। उनका किराया देना पड़ता है। फिर वक्ता के अपने समय का, आने-जाने के खर्च का भी प्रश्न है। इन सबकी पूर्ति सुनने वालों को टिकिट खरीद कर करनी पड़ती है; जिस प्रकार अपने यहाँ सिनेमा व्यवस्था के साथ टिकिट का क्रम जुड़ा रहता है। जिसने टिकिट खरीदा है, समय खर्च किया है, उसे उस लागत की तुलना में कुछ अधिक मूल्य की उपलब्धि अपेक्षित होनी ही चाहिए। अस्तु वह वक्ताओं को पूरी तैयारी करके तथ्यपूर्ण बातें ही कहने जाना पड़ता है और ४५ मिनट की अवधि में इतनी खुराक देनी पड़ती है, जिसे श्रोताओं को संतोष देने वाली कहा जा सके। उसमें तथ्यों की भरमार होती है, जिन्हें जुटाने के लिए वक्ता उतना ही श्रम करते हैं, जितना कि उच्च कक्षाओं की परीक्षा देते समय छात्रों को तैयारी करके जाना पड़ता है।

अपने देश में अभी वैसी आवश्यकता नहीं समझी जाती और ऐसे ही अल्प शिक्षित-अनपढ़ लोग कुछ भी बकवास करने सभा मंचों पर जा बैठते हैं और सुनने वालों का बहुमूल्य समय नष्ट करते हैं। इससे भाषणों की उपयोगिता पर संदेह उत्पन्न होता है और लोग उनमें जाना निरर्थक मानने लगते हैं। यह जनता के साथ प्रत्यक्ष की अत्याचार है। अपने अहंकार तृप्ति के लिए दूसरों के समय को बर्बाद करना निश्चित रूप से एक अपराध ही माना जायेगा। भले ही अविकसित लोग वैसा अभी अनुभव न करते हों; पर जब विचारशीलता जागेगी, तो उथले वक्ताओं को अपराधियों की श्रेणी में ही रखा जाने लगेगा।

किसी सभा में पाँच हजार व्यक्ति उपस्थित हैं। उसमें एक अनपढ़ वक्ता ने एक घण्टा बेतुका भाषण दिया। इसका अर्थ हुआ ५००० लोगों के एक घण्टे की बर्बादी। एक काम का दिन अब आठ घण्टे का नहीं, सात घण्टे का गिना जाता है। ५००० को ७ से विभाजित करने से ७१५ दिन हुए। विचारशील लोगों का एक दिन औसतन १५ रुपये का भी गिना जाय, तो $७१५ \times १५ = १०७२५$ अर्थात् लगभग ११ हजार रुपये नष्ट हुये*। वह बकवादी इतना धन अपहरण करने या बरबाद करा देने का अपराधी गिना जा सकता है। फिर कुरुचिपूर्ण, निराशाजनक वातावरण पैदा करके भविष्य में उपेक्षा का भाव उत्पन्न कर देना और भी सार्वजनिक हानि है। अस्तु वक्ता को अपने प्रयास की गम्भीरता और प्रतिक्रिया को समझना चाहिए और व्यासपीठ पर-सभा मंच पर बैठने से पूर्व अपने, व्यास स्थिति के अनुरूप ज्ञान एवं कौशल को समुन्नत करना चाहिए।

वक्ता को यह उत्तरदायित्व अनुभव करना चाहिए कि दूसरों का बहुमूल्य समय खर्च कराने के बदले अपना श्रम, समय, मनोयोग भी उपयुक्त मात्रा में दिया जाना चाहिए। पूर्व तैयारी में अध्ययन, चिन्तन आदि में जो श्रम किया जाए, उसे नितान्त आवश्यक ही अनुभव करना चाहिए। दावत का निमंत्रण देकर जिन लोगों को बुलाया गया, उन्हें ऐसे ही धूल-मिट्टी की बनी मिठाई खिलाकर वापस नहीं भेज देना चाहिए। यदि दावत की घोषणा की गई है, तो उपयुक्त भोजन का प्रबन्ध करना भी कर्तव्य है। वक्ता का उत्तरदायित्व वस्तुतः ऐसा ही है।

नीतिकार का वचन है—“ज्ञानार्जन में तीन आदतें शत्रु के समान हैं—अभ्यास न करना, विद्वान् बनने के लिए उतावली बरतना और अहंताग्रस्त होकर अधिक जानने की जिज्ञासा खो बैठना।”

अपने जाने-बूझे विषय को भी पहले की अपेक्षा अधिक परिष्कृत ढंग से बोलने के लिए उसमें नये तथ्य मिलाने और पुराने को अधिक आकर्षण बनाने की हर बार चेष्टा करनी चाहिए। आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय के अध्यापक ई० विल्सन एक बार अपना पाठ्य विषय घर से तैयार करके न ला सके, तो उन्होंने छात्रों के सम्मुख अपनी असमर्थता के लिए दुःख व्यक्त करते हुए उस दिन का पाठ पढ़ाया ही नहीं। यद्यपि वे चाहते तो एक दिन का पाठ सामान्य ज्ञान के आधार पर ऐसे ही खींच सकते थे; पर भाषण के साथ जुड़ी हुई अपनी गरिमा का जो मूल्य समझते हैं, वे घिसा-पिटा भोजन बासी कढ़ी के समान निरर्थक मानते हैं। हर बार नवीनता की नीति ही उन्हें गौरवास्पद लगती है।

सर विश्वेश्वरैया का एक संस्मरण बड़ा प्रेरक है। वे एक बार किसी देहाती क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण सर्वे कार्य के लिए गये। उनकी ख्याति सुनकर वहाँ के प्राथमिक विद्यालय के अध्यापक यह अनुरोध करने पहुँचे कि वे छात्रों के सामने कुछ भाषण कर दें। व्यस्तता की बात समझाते हुए उन्होंने मना भी किया; किन्तु अध्यापक लोग विनयपूर्वक आग्रह ही करते रहे। अन्ततः अनुरोध को स्वीकार करके वे कुछ मिनट भाषण के लिए तैयार हो गये। स्थानीय स्कूल में उनका पन्द्रह मिनट भाषण हुआ। छात्रों तथा उपस्थित ग्रामीणों ने इस अनुग्रह के लिए कृतज्ञता एवं प्रसन्नता व्यक्त की।

इस घटना के कुछ ही दिन बाद सर विश्वेश्वरैया का एक पत्र उसी स्कूल के प्रधानाध्यापक के नाम पहुँचा, जिसमें लिखा था “अमुक तारीख को पुनः छात्रों के सम्मुख उतने ही समय भाषण करने आ रहे हैं। व्यवस्था करने की कृपा करें।”

अध्यापकों को हर्ष मिश्रित आश्चर्य हुआ कि इतने बड़े आदमी किसलिए भाषण करने आ रहे हैं ? जो हो, तैयारी की गई और नियत समय पर वे आ पहुँचे। भाषण उन्होंने पढ़कर सुनाया। जब वे चलने लगे, तो अध्यापकों ने इस बार इस प्रकार आने का कारण पूछा। उत्तर में उन्होंने बताया कि “पिछला भाषण बिना तैयारी का था। बिना तैयारी वक्तृता असंबद्ध होती है। उसमें अनेक त्रुटियाँ रहती हैं। पिछली बार मैंने जल्दबाजी में जो सूझ पड़ा—सो कह दिया। पीछे सोचता रहा कि उसमें काफी त्रुटियाँ थीं। त्रुटिपूर्ण कोई भी कार्य करना कर्ता की अप्रतिष्ठा है। मैंने सोचा उस भूल का परिमार्जन करूँगा, ताकि वैसे आलस्य की आदत न पड़ जाए। यहाँ से जाने के बाद मैंने स्कूली छात्रों का विषय पढ़ा, उसमें से उपयुक्त बातें खोजीं तथा नोट तैयार किये। उन्हें ही सुनाकर पिछली भूल का परिमार्जन करने मुझे दुबारा यहाँ आना पड़ा।”

वस्तुतः यही दृष्टिकोण प्रत्येक उत्तरदायित्व अनुभव करने वाले वक्ता का होना चाहिए। पूर्ण तैयारी किये बिना नहीं बोलना चाहिए। नौटंकी के पात्र अभिनेता अपने अभिनय का पूर्व ‘रिहर्सल’ उस दिन तक करते रहते हैं, तभी उनका कार्य ठीक तरह निभ पाता है। यदि वे उपेक्षा करें, तो वे भूल जायेंगे और उसमें त्रुटियाँ रहने लगेंगी। सभा मंच को भी नाट्य-मंच मानकर चलना चाहिए और उसकी भी पूर्व तैयारी करने में उपेक्षा नहीं करनी चाहिए।

भाषण में जो कहना है, उसके तथ्य क्रमबद्ध रूप में कागज पर नोट कर लेने चाहिए। उस कागज के सहारे स्मरण शक्ति ठीक काम करती है और जो कहना है, वह ठीक तरह कह सकना संभव हो जाता है। कई लोग कागज के सहारे अपनी बात कहने में हेठी समझते हैं; पर वस्तुतः ऐसी बात नहीं है। अति महत्त्वपूर्ण सम्मेलनों

में मूर्धन्य एवं विशेषज्ञ व्यक्ति अपना भाषण पढ़कर ही सुनाते हैं। स्नातकों को उपाधि पत्र देने के लिए आयोजित दीक्षान्त समारोहों को गणमान्य व्यक्ति ही सम्पन्न करते हैं। उनके प्रवचन प्रायः छपे या लिखे हुए ही होते हैं। राष्ट्रपति और राजनेता अपने प्रामाणिक भाषण पढ़कर ही सुनाते हैं। कॉलेजों के प्रोफेसर हर दिन घर से अपने पढ़ाने का विषय तैयार करके लाते हैं और नोट्स सामने रखकर उसे क्रमबद्ध रूप से छात्रों को पढ़ाते हैं। इसमें हेठी की कोई बात नहीं। स्मरणशक्ति किसी की भी इतनी नहीं होती कि तैयार किया हुआ प्रवचन याद बना रहे। तैयारी को विस्मृति से बचाने के लिये नोट्स तैयार करने और प्रवचन के समय उसे सामने रख लेने की बात हर दृष्टि से उपयोगी है। यदि फिर भी कुछ झिझक लगे, तो वे संक्षेप में संकेत रूप में लिखे नोट्स किसी अखबार या मासिक पत्रिका आदि के ऊपर लगाकर सामने रखे जा सकते हैं। उन पर तिरछी नजर डालकर विषय क्रम को व्यवस्थित रखा जा सकता है।

नोट्स लिखे कागज का सहारा लेना नौसिखिये वक्ताओं के लिये तो नितान्त आवश्यक है। उनके लिए भी उनकी उपयोगिता है, जो अपने हर भाषण में कुछ विशेषता और नवीनता लाने के इच्छुक हैं। जिन्हें अपना ज्ञान बढ़ाने और जनता को नई जानकारीयाँ, अभिव्यक्तियाँ देने में अपना गौरव होता है, वे सदा पढ़ते और सोचते रहते हैं। जो उपयुक्त लगता है, उसे नोट करते हैं। स्मरणशक्ति इतनी प्रखर कदाचित् ही किसी की होती है, जो पढ़ी-सोची बातों को सभा मंच पर यथाक्रम-यथाप्रवाह कहते चला जाए। साधारणतया यह कार्य नोट्स या पर्चा सामने रखकर ही संपन्न करना पड़ता है। इस प्रक्रिया को अपनाने में अपनी हेठी नहीं, विशेषता अनुभव की जानी चाहिए।

सरल भाषण की कसौटी

भाषण कला वस्तुतः संभाषण कौशल का ही विकसित रूप है। संभाषण में थोड़े लोग विचार-विनिमय करते हैं। अपनी कहते-दूसरे ही सुनते हैं। उसमें शंका-संदेहों का निराकरण करने और प्रश्नोत्तर का क्रम चलता है; प्रतिक्रिया का पता चलता है। पर यह थोड़े लोगों के ही बीच की चीज है। यदि एक ही समय में एक आदमी को अधिक लोगों से अपनी बात कहनी है, तो फिर भाषण की ही शैली अपनानी पड़ेगी। इसमें लाभ है कि एक व्यक्ति अनेक लोगों के सामने अपने विचार थोड़े ही समय में एक साथ रख सकता है। हानि यह है कि सुनने वालों पर क्या प्रतिक्रिया हुई, उसने उसे किस रूप में समझा, अपनाया, इसका कुछ पता नहीं चल सकता। यों लोगों के एक साथ हँसने-ताली बजाने जैसी प्रतिक्रियाओं से सुनने वालों की प्रसन्नता समझी जा सकती है। ध्वनि से, न सुनने, हिलने, चलने, परस्पर बातें करने लगने जैसे लक्षणों से उपेक्षा और विरोधी नारेबाजी से कुछ ही लोगों के मन की अप्रसन्नता की आधी-अधूरी सांकेतिक प्रतिक्रिया जानी जा सकती है। अधिकांश उपस्थित लोग चुपचाप बैठे रहते हैं, उनके बारे में कुछ नहीं कहा जा सकता। वक्ता का श्रम सार्थक हुआ कि नहीं? उसके उद्देश्य की पूर्ति किस मात्रा में हुई? उपस्थित लोगों से क्या आशा की जाए, यह जानना तो संभाषण में ही संभव है? भाषण में नहीं। इतना होते हुए भी उसकी महत्ता कम नहीं हो सकती। अधिक लोगों को कम समय में विचार देने के लिए जनसमूह के सम्मुख भाषण देने के अतिरिक्त और कोई सरल उपाय नहीं है।

अपने भाव, इच्छा एवं उद्देश्य से दूसरों को परिचित, प्रभावित करने का सबसे सरल साधन भाषण है। वार्तालाप द्वारा विचार विनिमय करके परस्पर बहुत कुछ बौद्धिक आदान-प्रदान हो सकता है। एक की जानकारी से दूसरा परिचित हो सकता है। इस प्रकार चिन्तन को नये तथ्य, नये तर्क, नये आधार प्राप्त करने का अवसर मिलता है। इससे भ्रान्तियों को दूर करने और वस्तुस्थिति को अधिक अच्छी तरह समझ सकने का अवसर मिलता है।

“नालन्दा शब्द सागर” कोश में वक्तृत्व कला का अन्तर बताते हुए लिखा गया है—“भाषण देने की योग्यता या शक्ति को वक्तृता कहते हैं। यदि वह व्यवस्थित और आकर्षक हो, तो वह वक्तृत्व कला कहलाती है। कलात्मक रीति से वक्तृत्व की योग्यता शक्ति व्यवस्था को प्रकट करती है। जिसमें आकर्षण टपकता हो, वही वक्ता का प्राण है। निर्जीव वार्ता में प्राण फूँक देना ही कला है। जिसमें भावनात्मक हलचल उत्पन्न होती हो, उभार और उफान आते हों, दिशा मिलती हो और प्रेरणा प्राप्त होती हो, वही कलात्मकता है। कलाओं में वक्तृता अग्रणी है। कलाकारों में कुशल वक्ता को मूर्धन्य कलाकार ही कहा जा सकता है।”

जब भी भाषण करना हो, तब सभा मण्डप में उपस्थित लोगों के स्तर की कल्पना करनी चाहिए और रुचिकर एवं सरल ढंग से क्या कहना, किस प्रकार कहना उपयुक्त होगा, उसका अनुमान लगाना चाहिए। इस परिकल्पना में संयोजनकर्त्ताओं और ऐसे लोगों से जानकारी प्राप्त की जा सकती है, जिनका उस आयोजन में हाथ हो। संभावना की जो अधिक सही कल्पना करा सके, ऐसे लोगों से सम्पर्क कर सकना कुछ कठिन नहीं है। फिर अपनी सूझबूझ भी तो काम करती है। उपस्थित जनता के संभावित स्तर के साथ तालमेल

बिठाते हुए तथ्यपूर्ण भाषण करने के लिए मनोयोग एवं अध्ययन के साथ तैयारी की जाए, तो ऐसे आधार मिल सकते हैं, जिनसे वक्ता का गौरव बढ़े और सुनने वालों को अपने समय का समुचित प्रतिफल मिल जाए।

बच्चों की, वयस्कों की, वृद्धों की, महिलाओं की मनःस्थिति भिन्न प्रकार की होती है। उनके समझने और स्तर का ध्यान रखते हुए प्रवचन का आधार निर्धारित करना चाहिए। बच्चों में जो कहना हो कथा, कहानियों, घटनाओं, चित्रों, उपकरणों के माध्यम से ठीक पड़ेगा। दार्शनिकता तथा तथ्यपूर्ण प्रस्तुतीकरण वे अपने अल्प विकसित मस्तिष्क द्वारा समझ ही नहीं सकेंगे। बच्चों को समझाना तभी सम्भव हो सकता है, जब अपने को उसी स्तर का अनुभव करते हुए, उसी स्थिति में समझी जा सकने योग्य शैली अपनायें। युवकों की भावनाएँ भड़काई जा सकती हैं। प्रौढ़ों को तर्क और तथ्य के सहारे किसी बात को समझाया जा सकता है। बूढ़े परम्परावादी हो जाते हैं, अतः क्या होता चला आया है, ऐसा इतिहास सुनाकर उन्हें सहमत कर लेना अपेक्षाकृत सरल है। अविकसित महिलाओं के विचार घर-परिवार के क्षेत्र तक सीमाबद्ध रहते हैं। उनका, उनके बच्चों तथा उनके पति और परिवार का हित साधन जिस-जिस प्रकार हो सकता है, उसी सीमा के अन्तर्गत जो कुछ कहा जायेगा, उन्हें अच्छा लगेगा। उनका मन प्रायः मर्माहत रहता है, अतः सहानुभूति-करुणा उत्पन्न करने वाली घटनाएँ ही उन्हें अधिक प्रभावित करती हैं।

किसी कॉलेज में प्रवचन करना हो, तो उपस्थित छात्रों एवं अध्यापकों के अध्ययन विषय के साथ संगति मिलाते हुए अपनी जो बात कही जायेगी, उसे अधिक रुचिपूर्वक सुना जायेगा। मेडीकल कॉलेज के छात्रों के सम्मुख यदि शरीर शास्त्र के संदर्भ देते हुए उसी

क्षेत्र के उदाहरणों को काम में लाते हुए अपनी बात कह सकना किसी अध्ययनशील वक्ता के लिए संभव हो सके, तो वह अधिक गहरी छाप छोड़ेगी। यही बात अन्य वर्गों पर लागू होती है। व्यवसायी, शिल्पी, कृषक, श्रमिक, बुद्धिजीवी आदि वर्गों का जहाँ बाहुल्य हो, वहाँ उसी स्तर के संदर्भ देते हुए विषय का प्रतिपादन कर सकना वक्ता की विशिष्ट प्रतिभा और विस्तृत ज्ञान का प्रमाण माना जायेगा और उसका अधिक प्रभाव पड़ेगा। यों ऐसा कर सकना हर किसी के लिए सरल नहीं है, तो भी यदि भाषणकर्त्ता को अपनी छाप छोड़नी हो, तो अध्ययनशील एवं विचारक बनना चाहिए। जिस स्तर के लोगों से उसका वास्ता पड़ता है, उनकी मनोभूमि का अनुमान लगाते हुए विषय प्रतिपादन का ढाँचा खड़ा करना चाहिए, चाहे जिस स्तर के लोगों में, चाहे जो बात, चाहे जिस ढंग से कहने लगना यह सिद्ध करता है कि वक्ता को बौद्धिक आलस्य ने घेर रखा है, वह अपनी अभ्यस्त बात, अभ्यस्त ढंग से कहकर सरलतापूर्वक बेगार भुगता रहा है। एक ही बात अनेक ढंगों से कही जा सकती है। उसमें संदर्भ, तथ्य, तर्क, प्रमाण, उदाहरण अलग-अलग प्रयुक्त हो सकते हैं; पर वैसा कर वही सकता है, जिसने इस दृष्टिकोण से अध्ययन और चिन्तन किया हो एवं भाषण की तैयारी में पर्याप्त समय एवं मनोयोग लगाया हो।

प्रबुद्ध व्यक्तियों के लिए तर्क और तथ्य प्रस्तुत करते चलना ही ठीक है; पर जन साधारण के मन में कोई बात उतारने के लिए ऐतिहासिक एवं सामयिक घटनाओं का, कथा दृष्टान्तों का, संस्मरण उदाहरणों का समावेश करते चलना अच्छा प्रभावोत्पादक सिद्ध होता है। बौद्धिक प्रतिपादनों को समझने और हृदयंगम करने के लिए श्रोताओं का मस्तिष्क प्रबुद्ध स्तर का होना चाहिए। सामान्य लोग

केवल मोटी बाबतों को ही समझ पाते हैं। बारीकियों को पकड़ सकना उनकी स्थिति से बाहर की बात होती है। ऐसी दशा में प्रतिपादन को रोचक-आकर्षक बनाने के लिए उसके साथ घटनाओं का जोड़ना आवश्यक हो जाता है। यों उन कथाओं-संस्मरणों के कहने में बहुत-सा समय चला जाता है, पर उस मार्ग को छोड़कर जन-सामान्य को समझाने और तथ्य को गले उतारने का और कोई उपाय है नहीं।

भाषण में ऐसी शब्द रचना का प्रयोग होना चाहिए, जो उपस्थित लोगों के लिए सरल-सुबोध पड़ती हो। कठिन शब्दों का प्रयोग लोग अपने ऊँचे साहित्यिक ज्ञान के कारण ऊँचे स्तर का वार्तालाप करने या वैसा ही लेखन करने के कारण करने लग जाते हैं और फिर उन्हीं का सिलसिला भाषण में भी चल पड़ता है। इससे वक्ता के साहित्य ज्ञान की छाप तो पड़ती है, पर उनका प्रभाव कम पड़ता है, क्योंकि जो सहज स्वाभाविक नहीं है, वह नीचे उतरने में अड़चन उत्पन्न करता है। सुनने वालों का मस्तिष्क जितनी देर में कठिन शब्दों के अर्थों का आभास पाने की चेष्टा करता है, उतनी देर में प्रवाह और आगे बढ़ जाता है। यदि शब्द सरल रहें होते, तो उनका अर्थबोध एक झंझट के रूप में सामने न आता और जो बात कही गई है, वह सहज ही गले उतरती चली जाती। मस्तिष्क शब्द जंजाल की उलझनों में न पड़कर प्रयोजन को सीधे ही हृदयंगम करने लगता। अस्तु विद्वत्ता की छाप छोड़ने के झंझट में न पड़कर शब्द रचना को सरल बनाना चाहिए। बोलचाल की भाषा का प्रयोग करना चाहिए। जो सहज स्वाभाविक है, उसी में प्रवाह भी बनता है। प्रवाह का अपना लालित्य है। स्निग्धतापूर्वक बिना रुके-बिना उलझे अपनी सहज गति से विचारधारा प्रवाहित हो रही हो, तो वह भी सुनने वालों को

कम आकर्षक नहीं लगती। कहने और सुनने वाले के बीच तादात्म्य मिलाने में यह प्रवाह बहुत ही सहायक होता है।

सुनने वालों के भाषा ज्ञान का अनुमान लगाने की तरह ही उनकी पूर्व मान्यताओं, रुचिकर विषयों एवं चिन्तन के अभ्यस्त स्तरों की भी कुशल वक्ता जानकारी प्राप्त करते हैं और उनके साथ संगति भी मिलाते हुए अपनी बात का तारतम्य उसके साथ जोड़ते हैं। जैसे किसी क्षेत्र में धार्मिक चर्चाएँ अधिक होती रही हैं, सुनने वाले रामायण की कथाओं से अधिक परिचित रहे हैं, उनका ज्ञान उसी क्षेत्र में कुछ बढ़ा हुआ है, तो वक्ता के लिए उचित है कि उन्हीं कथानकों के साथ अपने प्रतिपादन का सिलसिला मिलाते हुए बात को आगे बढ़ाये। सुनने वालों का पूर्व ज्ञान यदि किसी नई दिशा के साथ जुड़ जाए, तो उन्हें प्रतिपादन सहज, स्वाभाविक, प्रामाणिक और हृदयग्राही लगेगा। उसे अधिक अच्छी तरह समझना और अपनाना उनके लिए सरल पड़ेगा। यदि इस प्रकार के लोगों के बीच वही बात राजनैतिक, मनोवैज्ञानिक, दार्शनिक पृष्ठभूमि पर कही जायेगी, तो सम्भवतः श्रोता उसे कठिनाई से ही समझने-अपनाने में समर्थ होंगे।

वह जमाना अब बहुत पीछे छूट गया, जब प्रवचन का साहस केवल आस-पुरुष ही करते थे। उनका कथन आर्ष वचन माना जाता था। व्यासपीठ पर बैठा हुआ व्यक्ति ऋषितत्त्व का प्रतिनिधि माना जाता था और उसकी वाणी को शास्त्र प्रमाण समझा जाता था। उन दिनों धर्मोपदेशक वक्ता नहीं, निर्देशक होते थे। उनके सुलझे हुए विचार और आदर्श चरित्र सहज श्रद्धा का संचार करते थे। तर्क और विवेक को उन दिनों इतना महत्त्व नहीं मिलता था। श्रद्धा सब कुछ थी। उन दिनों निर्देश की भाषा बोली जाती थी और उपस्थित लोगों

को ऐसा करने, ऐसा न करने का आदेश दिया जाता था, जिसे जनता उचित भी समझती थी।

अब स्थिति बदल गई। व्यक्ति के स्थान पर तर्क और तथ्यों को प्रामाणिक ठहरा दिया गया है। व्यक्ति चाहे कितना ही बड़ा विद्वान् या धर्मात्मा क्यों न हो, उसके विचार भ्रान्त और अनुपयुक्त हो सकते हैं। मनुष्य त्रुटिपूर्ण और अपूर्ण है। सत्य के अधिकाधिक समीप पहुँचने के लिए अभी हर किसी को प्रयत्न करना चाहिए और यह नहीं मान लेना चाहिए कि हम जैसा सोचते या मानते हैं, वही अंतिम है। इसके अतिरिक्त बातें गलत हैं। अब अपने मत को ही सत्य ठहराने वाले और उसी को मानने का आग्रह करने वाले धृष्ट माने जाते हैं और समझा जाता है कि यह दूसरे के विवेक का अपमान हो रहा है। हर व्यक्ति को स्वतंत्र चिन्तन का और विवेक के सहारे निष्कर्ष पर पहुँचने का अधिकार है। ऐसी दशा में लोक-विवेक को ही अंतिम निर्णय करने देना चाहिए और फैसले का भार उसी पर छोड़ना चाहिए।

फैसला न्यायाधीश को करना है। वकील अपनी दलीलें देकर न्यायाधीश को उचित निर्णय तक पहुँचने में सहायता भर दे सकता है। कानून ने वकील की मर्यादा इतनी ही सीमित रखी है। इससे आगे बढ़कर यदि वह अदालत को निर्देश देने लगे और ऐसी भाषा कहने लगे जिसका अर्थ अमुक फैसला करने का आग्रह करना या दबाव डालना होता हो, तो उसकी चेष्टा 'अदालत का अपमान' करने की अपराध संहिता में आ जायगी और वकील दण्डनीय होगा। सभा मंच पर बैठकर कोई वक्ता यदि अपने को न्यायाधीश मान बैठता है और जनता को ऐसा करने, ऐसा न करने का निर्देश देता है, तो वह अपनी स्थिति से बाहर निकल जाता है

और शिष्टता की मर्यादा का अतिक्रमण करता है। इस युग में वक्ता की स्थिति परामर्शदाता की रह गई है। अब उसके हाथ से निर्णायक के अधिकार वापिस ले लिये गये हैं।

अपने तर्कों को इस कुशलता के साथ रखा जाना चाहिए, जिससे सुनने वालों का सहज विवेक वक्ता के पक्ष में ढलने लगे। अधिक से अधिक न्याय और औचित्य का ध्यान रखकर जनश्रुतियों और अनुपयुक्त प्रचलनों से ऊँचे उठकर-नये सिरे से निष्कर्ष पर पहुँचने की अपील जनता से की जा सकती है और उसकी स्वतंत्र चेतना को विवेकानुयायी होने के लिए प्रोत्साहित किया जा सकता है। बस वक्ता का कार्य समाप्त हो गया।

भाषणों को वर्गीकरण की दृष्टि से चार भागों में विभक्त किया जा सकता है-१. वर्णन प्रधान, २. विचार प्रधान, ३. समीक्षा प्रधान, ४. भावना प्रधान। यों हर भाषण में इन चारों तथ्यों का न्यूनाधिक समावेश होता है, पर जिसकी प्रधानता रहे, उसे उसी वर्ग में गिनना उचित होगा।

वर्णन प्रधान भाषणों में घटनाओं की चर्चा अधिक मात्रा में विस्तारपूर्वक होती है। उनके आधार पर निष्कर्ष प्रस्तुत किये जाते हैं। इसमें कथानक, दृष्टान्त, संस्मरण, प्रसंग इस प्रकार फिट किये जाते हैं कि सुनने वालों को अपनी बात से सहमत किया जा सके। ऐसे भाषण सरल होते हैं, उसके लिए वक्ता को बहुत अधिक मानसिक श्रम नहीं करना पड़ता। वे रोचक भी होते हैं। बाल-वृद्ध, शिक्षित-अशिक्षित उन्हें भावपूर्वक सुनते हैं। मनोरंजन और उत्सुकता बनी रहने से वे किसी को भार रूप प्रतीत नहीं होते। पर उससे ज्ञान-संवर्धन कम ही होता है। जिन्हें विवेचना में, गहराई तक उतरने में रुचि नहीं होती, उनके लिए इस प्रकार की हल्की-फुल्की वक्तृताएँ

सरल पड़ती हैं। वे देर तक चलती रहने पर भी वक्ता या श्रोता को थकाती नहीं।

विचार प्रधान भाषणों को छोटे शोध निबंध कह सकते हैं। उनमें प्रतिपादन पक्ष के समर्थन में और विपरीत पक्ष के खण्डन में तर्क, तथ्य, प्रमाण, आँकड़े और उदाहरणों का जितना अधिक समावेश होगा, उतने ही वे प्रभावोत्पादक होंगे। यह एक कुशाग्रबुद्धि, अध्ययनशील एवं परिश्रमी वकील द्वारा की गई तैयारी की तरह है। युनीवर्सिटी से 'डॉक्टरेट' प्राप्त करने वाले छात्र जिस प्रकार अपने निबन्ध से बंधित सामग्री जुटाने में कुछ कमी नहीं रखते, उसी प्रकार विचार प्रधान भाषणों में सुनने वालों को प्रभावित करने के लिए इतनी अधिक सामग्री जमा करनी पड़ती है कि एक बार तो उससे सहमत होने के अतिरिक्त और कोई चारा ही न रह जाये।

समीक्षा-प्रधान भाषण वे हैं, जिसमें किसी दूरस्थ व्यक्ति द्वारा घटनाक्रम के उतार-चढ़ावों की, परिस्थितियों के परिवर्तन की, व्यक्तियों की त्रुटियों और तत्परताओं की चर्चा करते हुए वस्तुस्थिति प्रस्तुत की जाती है। सुनने वाले को पक्ष-विपक्ष की परिस्थितियों से परिचित कराया जाता है और प्रतिपाद्य विषय के संबंध में आदि से अन्त तक के हेर फेरों की जानकारी कराई जाती है। यह इतिहासकारों जैसा दृष्टिकोण है। न्यायाधीशों के फैसले भी इसी आधार पर लिखे गये होते हैं। वकील एक ही पक्ष की बातें करते हैं, पर जूरी वैसा नहीं करते; वे दोनों पक्षों द्वारा प्रस्तुत किये गये घटना चक्र पर विचार करते हैं। किसने कितनी भूल की और उस भूल से दोषी कौन कितना ठहरा, उसी अनुपात से वे दण्ड देने या छोड़ने की सलाह न्यायाधीश को देते हैं। सभी समीक्षात्मक भाषण जूरी के स्तर पर खड़े होकर देने पड़ते हैं और उनमें जनता को न्यायाधीश मानकर

उसे किस निर्णय पर पहुँचना चाहिये, इसकी पृष्ठभूमि बनाई जाती है। ऐसे भाषण में वक्ता अपने को निष्पक्ष सिद्ध करता और गुण-दोष की विवेचना करते हुए किसी निर्णय पर पहुँचने की अपनी स्थिति प्रकट नहीं करता है, भले ही उसका झुकाव किसी पक्ष विशेष की ओर भीतर ही भीतर क्यों न रहा हो। ऐसे भाषण अपेक्षाकृत कठिन पड़ते हैं। उनका निर्वाह अधिक सूक्ष्मदर्शी ही कर सकते हैं।

भावना प्रधान भाषणों में संवेदना को, भावुकता को, आदर्शवादिता को उभारा जाता है। उनमें कवित्व की भूमिका होती है। श्रद्धा, भक्ति, प्रेम, करुणा, संयम, उदारता आदि के पक्ष में तर्क उतने नहीं होते, जितनी की भावनाएँ। आस्तिकता, आध्यात्मिकता एवं धार्मिकता जैसे भावप्रधान विषयों में श्रद्धा एवं भावुक संवेदनाओं का ही बाहुल्य रहता है। तर्क और प्रमाणों के आधार पर भी इन्हें कहा तो जा सकता है, पर भावुकता का पुट चढ़ाये बिना वे बातें आधी, अधूरी, नीरस रहती हैं और तर्क भी अकाट्य नहीं होते। इसलिए कोमल संवेदनाओं को उभारकर ही जन-समुदाय को अपने प्रवाह में बहकाया जा सकता है। कालिदास रचित "मेघदूत" (संस्कृत काव्य) में भावुक कल्पनाओं की ही भरमार है। छायावादी एवं भावप्रधान कविताओं में यह रस ही प्रधान होता है।

क्रौंच पक्षी का तीर से घायल होना, उसके साथी का विलाप करना, उस क्रन्दन से वाल्मीकि का हृदय पसीजना, उससे करुणा की धार बहना और उस प्रवाह में आदि कवि का कवित्व फूट पड़ना; घटनाक्रम की दृष्टि से सामान्य बात है, पर यदि इतने से प्रसंग में सन्निहित भाव उभार को प्रस्तुत किया जा सके, तो वह किसी संवेदनशील चित्रकार द्वारा प्रस्तुत किये करुणार्द्र और रुला देने वाले चित्र से कम मार्मिक नहीं। ऐसी चर्चाएँ करके कुशल वक्ता-श्रोताओं

को हँसाते, रुलाते और विभिन्न स्तर की अनुभूतियाँ कराते हुए उन्हें अपने साथ बिना पंखों के ही उड़ा ले जाते हैं और वहाँ ले जाकर खड़ा कर देते हैं, जहाँ पहुँच सकना सामान्य तर्क बुद्धि का काम न था।

यह बुद्धि का नहीं, हृदय का खेल है। अभिनय की तरह कुछ अभ्यास कर लिया हो, रट लिया हो, तो बात अलग, अन्यथा ऐसे भाषण दे सकना संवेदनशील कवि मानस का ही काम है। भावचित्रों को उभारना और उनमें नयनाभिराम रंग भरना निःसंदेह तार्किक, दार्शनिक से भी अधिक गहरी अन्तःचेतना का काम है। जिनमें ऐसी प्रतिभा होती है, वे जनता की शिथिलता को उत्साह में, उपेक्षा को आक्रोश में, पूर्वाग्रह को नवीनता में, अश्रद्धा को श्रद्धा में और श्रद्धा को अश्रद्धा में बदल देने में सहज ही सफल हो जाते हैं। संसार में उग्र आन्दोलनों का अपना अलग ही इतिहास है। वे जनता को आवेशग्रस्त करके ही सफल बनाये गये हैं। कई बार आवेशों को शान्त करना भी जादू की छड़ी घुमाने जैसा होता है। असहमत जनता को इसी आधार पर सहमत कर सकना संभव होता है। पाकिस्तान की माँग काँग्रेस द्वारा स्वीकृत करा लेने में राजगोपालाचार्य के भाषण ने ऐसी ही जादू की छड़ी घुमाई थी। सरदार भगतसिंह को फाँसी न लगाने का आग्रह देश के समस्त नेताओं ने एक स्वर से किया था। ब्रिटिश सरकार ने उसे न माना। इस उत्तेजना से अंग्रेजों के प्रति भारतीय जनता में अत्यधिक आवेश था और उनके स्वराज्य सम्बन्धी प्रस्ताव को पूर्णतया टुकरा देने के पक्ष में लोग थे। तो भी गाँधी ने काँग्रेस से वह सहमति का प्रस्ताव पास करा लिया। यह जनमत को उलट देने की अद्भुत सफलता थी। ऐसे अवसरों पर तर्क कम और भावनाओं का उभार मुख्य होता है। भावनाओं के साथ खेलना

भावशक्ति सम्पन्न वक्ता का ही काम है। वह जनमानस पर छा जाने और लोकप्रवाह को अपने साथ बहा ले जाने में अधिक सफल होता है।

उपरोक्त चारों स्तर एक के बाद एक अपेक्षाकृत अधिक कठिन हैं। वर्णनात्मक शैली सबसे सरल है। इसके बाद विचार प्रभावों का वजन है। यों अभीष्ट उद्देश्य की पूर्ति के लिए दोनों ही अपनी प्रखरता और जन स्तर को देखते हुए प्रभावोत्पादक होते हैं। समीक्षा के लिए दार्शनिक एवं विवेचनात्मक-विश्लेषणात्मक प्रतिभा चाहिए और सुनने वालों का स्तर न्यायाधीश स्तर पर निष्कर्ष निकाल सकने जैसा होना चाहिए। भावनात्मक भाषणों का निर्वाह जितना स्वाभाविक होगा उतना ही मार्मिक बनेगा। नाटकीय और असंबद्ध भाव चित्रण बहुत भोंड़ा हो जाता है। उसके लिए कवि और कलाकार की प्रतिभा चाहिए। ये पिछले अभ्यास के आधार पर बन पड़ते हैं। श्रम और मनोयोग से वैसे भाषण तैयार किये जा सकते हैं, पर भावुकता का कोई नियम या स्कूल नहीं। उस सम्बन्ध में इतना ही हो सकता है कि भाव प्रधान गद्य-पद्य पढ़े जायें, चित्र देखे जायें और उस प्रकार के अवसरों पर उपस्थित होकर कोमल संवेदनाओं को उभारा जाये। इससे थोड़ी मदद तो मिल सकती है, भावाभिव्यक्ति कर सकने वाले शब्दों का चयन हो सकता है, पर विभिन्न घटनाओं या विषयों के साथ किस स्तर की अभिनव संवेदना जोड़ दी जाए? यह मौलिक प्रतिभा का ही काम है। जिनमें वह तत्त्व हो, वे उसे विकसित करते और खरादने का प्रयत्न जारी रख सकते हैं और कलात्मक प्रवचनों में अभ्यस्त हो सकते हैं।

शरीर का सुडौल गठन, ऊँचा और तीखा कंठस्वर, शब्दों का गठन, तथ्यों और भावों का समावेश, वक्ता की भावतन्मयता आदि

विशेषताओं के कारण भाषण प्रभावशाली बनते हैं। इनमें से कुछ बातें ईश्वर प्रदत्त हैं और कुछ प्रयास और अभ्यासजन्य। शरीर का गठन ईश्वर प्रदत्त है, पर उसे शालीनता प्रकट करने की स्थिति में रखना अपने हाथ की बात है। कंठस्वर की ध्वनि ईश्वर प्रदत्त है, पर उसमें शब्दों का, भावों का और प्रवाह-क्रम का समावेश करना प्रयत्न साध्य है। उथले और अन्यमनस्क मन से बोलने पर भाषण स्वभावतः घटिया रहेगा, पर जब उसे पूरी तैयारी, अध्ययन और विधि-व्यवस्था के साथ प्रस्तुत किया जायेगा और तन्मयतापूर्वक बोला जायेगा, तो उसे सहज ही बढ़िया और प्रभावशाली होने का श्रेय मिल जायेगा।

भाषण की प्रशंसा इस बात में है कि वक्ता आवश्यकतानुसार सभी प्रकार की संतुलित चर्चाएँ बिना लड़खड़ाए कर सकने में सक्षम हो; आक्रमण, संरक्षण, वर्णनात्मक, भावोद्दीपक, प्रेरक, उत्साहवर्धक, गले उतर सकने वाले तथ्यों से युक्त हो। उसमें कई रसों का समावेश होना चाहिए। असभ्य, असत्य, विवेकहीन, अण्ट-सण्ट बोलना वक्तृत्व कला का अपमान है। भाषण अर्थपूर्ण, दिशा सूचक, सारगर्भित, साध्य-साधक, सविनय होना चाहिए। उसमें जनमानस में प्रवेश कर सकने की क्षमता रहनी चाहिए। हमें यह पूरी तरह समझ लेना चाहिए कि वक्तृत्व शक्ति कोई ईश्वरीय देन नहीं है। वह पूर्णतया प्रयत्न साध्य है, अध्यवसाय और अभ्यास के आधार पर उसे हर कोई उच्चस्तर तक विकसित कर सकता है।



भाषण और भावाभिव्यक्ति का समन्वय

दूसरों को किसी विचारधारा से प्रभावित करना उसी के लिए सम्भव है, जो स्वयं उससे पूरी तरह प्रभावित हो। जिन भले या बुरे व्यक्तियों के अनेकों अनुयायी बन जाते हैं, उनमें से अधिकांश वे होते हैं, जो स्वयं उन विचारों तथा कार्यों में पूरी तरह तन्मय हों। अभीष्ट विचारधारा में तन्मय होने से ही उस प्रकार की क्षमताएँ विकसित होती हैं, उस प्रकार के काम बन पड़ते हैं, कामों में आने वाले अवरोधों से निपटने के उपाय सूझते हैं, तदनुसार उसे सफलता भी मिलती है। तन्मय व्यक्ति ही वस्तुतः प्रभावशाली होता है। आधे-अधूरेमन से सोचने-करने वाला अन्यमनस्क व्यक्ति कुछ कहने लायक सफलता प्राप्त नहीं कर सकता। यह सारे तथ्य भले ही लोगों ने पढ़े-सुने न हों, पर अन्तःचेतना हर किसी की पूरी तरह अनुभव करती है और उसी का अनुसरण करने की लोगों में इच्छा उत्पन्न होती है, जो तन्मयता की स्थिति प्राप्त करके अपनी आस्थाओं के प्रति गम्भीर होने का प्रमाण प्रस्तुत कर रहा हो। क्या कुमार्गगामी और क्या सन्मार्गगामी, दोनों ही प्रकार के लोग प्रभावशाली पाये जाते हैं। वे अनेकों को प्रभावित करते और उन्हें अपना साथी, सहयोगी, अनुगामी बनाते देखे गये हैं। इस सफलता के पीछे उनके व्यक्तित्व की वही विशेषता छिपी रहती है, जो विचार और कार्यों को जोड़ती और प्रतिभा बनकर सामने आती है। यह तन्मयता का ही चमत्कार है।

वक्ता को अपने प्रतिपादन में तन्मय होना चाहिए। स्कूली पाठ पढ़ाने की बात दूसरी है। यदि लोगों के मन-मस्तिष्क को मोड़ना है और किसी दिशा विशेष में प्रेरित करना है, तब तो नितान्त

आवश्यक है कि मार्गदर्शन करने वाला, नेतृत्व की भूमिका निभाहने वाला वक्ता यह सिद्ध करे कि वह निर्दिष्ट दिशा में चलने के लिए तत्पर है या नहीं ? इसे सिद्ध करने का वास्तविक प्रामाणिक मार्ग तो यही है कि वक्ता का पिछला एवं अब का क्रियाकलाप उसी प्रकार का रहा हो। सफल मार्गदर्शक वही हुए हैं, जिनकी कथनी और करनी एक रही है। प्रामाणिकता ही सबसे अधिक प्रभावोत्पादक होती है और वह विचार तथा कार्यों का समन्वय करने वाली तन्मयता से ही उत्पन्न होती है। वक्ता का, मार्गदर्शक का स्तर ऐसा ही होना चाहिए।

उपस्थित जनता को यह जानने की सहज उत्सुकता रहती है कि वक्ता की तन्मयताजन्य प्रामाणिकता कितनी है ? उपस्थित जनता में अधिकांश लोग वक्ता के व्यक्तित्व और कर्तृत्व के बारे में अधिक नहीं जानते। इस अनजानेपन के कारण उनका सुनना एक कौतुहल मात्र रह जाता है। स्कूली अध्यापकों द्वारा छात्रों को दी गई जानकारी पाने जैसा लाभ तो उन्हें मिल जाता है, पर मस्तिष्क और हृदय की गहराई में प्रवेश कर सकने जितनी क्षमता उस वक्तृत्व में नहीं रहती, चाहे उसकी कथन शैली कितनी ही आकर्षक क्यों न हो।

इस कठिनाई का एक हल यह है कि भाषण आरम्भ होने से पहले मंच पर उपस्थित सभा-संचालक वक्ता के अब तक के जीवनक्रम पर थोड़ा-बहुत प्रकाश डालकर जनता पर यह छाप डालते हैं कि वक्ता बकवादी नहीं, वरन् प्रतिपादित किये जाने वाले विषय के प्रति स्वयं बहुत आस्थावान् रहा है। इस परिचय से सुनने वालों में उस स्तर की श्रद्धा उत्पन्न होती है, जिसके आधार पर वे भाषण को ध्यानपूर्वक सुनें और उससे प्रभाव ग्रहण करें।

वक्ता को अपनी तन्मयता प्रदर्शित करने के लिए भाषण के साथ-साथ भाव-विभोरता की स्थिति प्रस्तुत करना भी कठिनाई का दूसरा हल है। यह सहज स्वाभाविक हो, तब तो कहना ही क्या; पर यदि वैसी बात नहीं है, तो भी यह आवश्यक है कि इस प्रकार का अभिनय किया जाये और अंग संचालन के सहारे प्रकट होने वाली भाव-विभोरता को कुशलतापूर्वक व्यक्त किया जाये।

कई बार यह प्रदर्शन कुछ अकुशल लोगों द्वारा ठीक तरह नहीं बन पड़ता और उसमें भोंड़ापन आ जाता है, तो लोग उस नकलीपन को ताड़ जाते हैं। ऐसी दशा में उलटी प्रतिक्रिया होती है और वक्ता को उपहासास्पद बनना पड़ता है; उसे ढोंगी समझा जाने लगता है। ऐसे ही अवसरों का स्मरण करके लोग 'नेता' को 'अभिनेता' की संज्ञा देने लगते हैं और कहते हैं कि नेता उन्नति करते-करते 'अभि' की उपाधि और अर्जित कर लेते हैं और पूरे 'अभिनेता' बन जाते हैं। अभिनेता अर्थात् नट, बहुरूपिया, वस्तुस्थिति से भिन्न प्रकार का प्रदर्शन करने में कुशल-अभ्यस्त। इस फूहड़ स्थिति तक पहुँचे बिना वक्ता को पहले से ही यह प्रवीणता प्राप्त करनी चाहिए कि भाषण के समय उसका समग्र व्यक्तित्व भाव-विभोर न सही कम से कम तन्मय एवं तरंगित दिखाई पड़ता रहे।

अंग संचालन और मुद्राओं का प्रदर्शन इस प्रयोजन की पूर्ति करता है। भावों का प्रकटीकरण करने में हमारा चेहरा सबसे अधिक भूमिका निभाहता है। आँखों से, होठों से, भौंहों से, गालों से मांस-पेशियों से, माथे पर पड़ने वाली सलवटों से, गरदन के हिलाने से, कन्धों की हरकत से यह जाना जा सकता है कि कहने वाला व्यक्ति किस भाव-प्रवाह में बहता चला जा रहा है। स्पष्ट है कि जीवन्त विचार शरीर को हरकत में ले आते हैं, उससे अनायास ही अपने

ढंग की हरकतें होने लगती हैं। क्रोध के आवेश में आये हुए, शोक में भरे हुए, निराशा से खिन्न, हिम्मत हारे हुए, उदास, असह्य क्षति के कारण दुःखित, कातर, असहाय, भयभीत, आतुर आदि विपन्न मनःस्थितियों में निमग्न व्यक्तियों को कुछ कहना नहीं पड़ता, उनके मन में किस स्तर की संवेदनाएँ उठ रही हैं, इसका अधिकांश आभास दूसरों को अनायास ही लग जाता है। कारण तो पूछने-बताने से प्रकट होता है, पर मनःस्थिति का, दिशा का बहुत कुछ प्रकटीकरण मुख-मुद्रा देखकर ही हो जाता है। लाभ प्राप्त, सफलता से प्रसन्न, आशान्वित, सुखद कल्याण में निमग्न, आश्वस्त, आशान्वित, संतुष्ट, सम्पन्न, गौरवान्वित मनःस्थिति छिपाये नहीं छिपती। कुरूप या रुग्ण व्यक्ति भी यदि इस तरह की मनःस्थिति में हों, तो भी उसके चेहरे पर उस तरह की उल्लसित मुद्राएँ नाचती दिखाई देंगी।

वक्ता अपने प्रतिपादित विषय में तन्मय है या नहीं, इसका सहज प्रकटीकरण उसकी मुद्राओं से होने लगता है। आँखें, होंठ, गाल, भौंहें, मस्तक की त्वचा, गर्दन आदि का संचालन किस भावाभिव्यक्ति से किस प्रकार होता है? इसकी कोई पुस्तक नहीं छपी है और न किसी प्रशिक्षण में वैसा सिखाया जाता है। फिल्मों, नाटकों के अभिनेता और शिक्षकों से लोग वैसा कुछ सीखते तो हैं, पर वह सब उथले दर्जे का होता है। चटकीले रंग के कपड़े बच्चों को शोभा देते हैं। बड़ों के कपड़े रंगे भी हो, तो उनका रंग हलका होना चाहिए। वक्ता को भावाभिव्यक्ति सीखने के लिए अभिनेताओं को मिलने वाला शिक्षण भी कुछ अधिक सहायक नहीं हो सकता। इसलिए इस दिशा में अपनी सहज बुद्धि से काम लेना पड़ता है। फिर हर आकृति और प्रकृति के, मनःस्थिति और परिस्थिति के व्यक्ति को भिन्न-भिन्न प्रकार से अपनी अभिव्यक्ति प्रकट करनी

पड़ती है। जिस प्रकार हर मनुष्य की आकृति, आवाज आदि में भिन्नता होती है, उसी प्रकार उसकी भावाभिव्यक्ति, मुद्राएँ भी भिन्न प्रकार की होती हैं। सब लोग एक ही ढंग से हँसें या रोयें, क्रोध या प्रसन्नता व्यक्त करें, यह नहीं हो सकता। इसलिए प्रयत्न करने पर भी ऐसा कोई शास्त्र नहीं बन सकता। इस संदर्भ में फोटो छाप कर शायद हलकी-सी जानकारी दी जा सके, पर आज तो वैसा भी कुछ उपलब्ध नहीं है। अस्तु, हर वक्ता को शीशे के सहारे भिन्न-भिन्न मुद्राओं के अनुसार चेहरे पर उतार-चढ़ाव लाने, उनके कई प्रकार के प्रयोग करने का अभ्यास स्वयं ही एकान्त कमरे में बहुत दिनों तक करते रहना चाहिए। यदि कोई अत्यन्त विश्वस्त और भावपारखी मित्र या स्वजन हो, तो उसे भी इस प्रदर्शन में उपयुक्त सम्मति देते रहने के लिए साथ लिया जा सकता है, अन्यथा यह कार्य स्वयं ही करना चाहिए। प्रदर्शक और समीक्षक की, अध्यापक और सलाहकार की सारी भूमिका स्वयं ही निभाही जा सके, तो उस समय में उपयुक्त मुद्राएँ प्रदर्शित कर सकने में सफलता मिल सकती है।

चेहरे के बाद भाव प्रकटीकरण में हाथों-कन्धों से लेकर कोहनियाँ, कलाईयाँ और अँगुलियाँ उस कार्य में बहुत सहायक होती हैं। निर्देश में अँगुली का इशारा करके वैसा करने के लिए इशारा किया जाता है। समझाने को मुद्रा अध्यापकों द्वारा छात्रों के समझाने में हस्त संचालन को देखकर जानकारी प्राप्त की जा सकती है। इन्कारी में हाथ खोलकर उसे इस प्रकार हिलाना पड़ता है, मानो अस्वीकृति प्रकट की जा रही हो। मुट्ठी बाँधना दृढ़ निश्चय का चिह्न है। भुजदण्डों का स्पर्श लड़ पड़ने की भावाभिव्यक्ति है। इसी प्रकार अन्यान्य भावों को भी कन्धों से लेकर अँगुलियों तक की तोड़-

मरोड़ों से, उठाने, गिराने, हिलाने से प्रकट किया जाता है। इसके लिए इस कला के निष्णात नेताओं-अभिनेताओं की मुद्राएँ देखकर बहुत कुछ सीखा जा सकता है और नकलची बन्दर की तरह तो नहीं, पर अपने ढंग से उसे अपने लिए उपयुक्त रीति से फिट करने का उपक्रम बनाया जा सकता है।

नृत्य में भावाभिव्यक्ति अंग संचालन द्वारा ही प्रकट की जाती है। पैरों की थिरकन, कटिप्रदेश, वक्ष, गरदन, आँखें, होंठ, हाथ, कलाइयाँ, अंगुलियाँ, अंगों में मोड़-तोड़ जैसे क्रियाकलाप मिलकर नृत्य प्रक्रिया सम्पन्न करते हैं। गायक के साथ अथवा बिना गायक के और मात्र थोड़े से वाद्य यंत्रों के सहारे नृत्य सम्पन्न होता है। यह अंग संचालन ही नर्तक की अपनी कुशलता है। उसकी कला का स्तर इसी आधार पर प्रकट होता है। अभिव्यक्ति को अंग संचालन के साथ ठीक तरह समन्वित कर सकने की सफलता के कारण ही उसे सराहना मिलती है।

यहाँ यह नहीं कहा जा रहा है कि वक्ता को नर्तक की तरह मंच पर जाना चाहिए और वैसी ही उछलकूद मचानी चाहिए। ऐसा करना तो परले सिरे की मूर्खता का प्रदर्शन होगा। इन पंक्तियों में सिर्फ इतना कहा जा रहा है कि अभिनय कला के सहारे भावाभिव्यक्ति के तथ्यों को सूक्ष्म दृष्टि से देखा-समझा जाना चाहिए और फिर अपने स्तर, व्यक्तित्व, प्रतिपादन, वातावरण, श्रोताओं का रुझान आदि को देखते हुए अपनी स्वतंत्र बुद्धि से, सहज चेतना से यह निश्चित करना चाहिए कि कहाँ, कब, किस प्रकार, कितना अंग संचालन जनमानस को प्रभावित करने के लिए उपयुक्त हो सकता है। इसमें सहज संतुलन बना लेना ही यहाँ बुद्धिमानी एवं सूक्ष्म दृष्टि का चिह्न माना जायेगा।

मुद्राओं के अतिरिक्त वाणी में रस और अलंकारों का समन्वय करते हुए उसे प्रभावोत्पादक बनाया जाता है। सामान्य खाद्य पदार्थों को षट्‌रस व्यंजनों में बदलने को पाकविद्या कहते हैं। नमक, शकर, खटाई, मिर्च, हींग, जीरा, घी आदि के सहारे स्वाद बदले जाते हैं और खाने वालों को मजा इसी रस-सज्जा के आधार पर आता है। कुशल रसोइये जानते हैं कि किस प्रकृति के लोगों को किस प्रकार के व्यंजन बनाकर प्रसन्न किया जा सकता है। दावतों में कई स्वादों के, कई आकृतियों के खाद्य पदार्थ होने से ही सराहा जाता है। तस्वीर बनाने वाले चित्रकार कई रंगों के कई सम्मिश्रण बनाकर आकृतियों को नयनाभिराम बनाते और आकर्षण उत्पन्न करते हैं। यह रंगों का उतार-चढ़ाव ही चित्र में अंकित आकृतियों द्वारा भावाभिव्यक्ति करता है और उसी कसौटी पर चित्रकार-चित्रकार की कला का मूल्यांकन किया जाता है। ठीक यही क्रम वाणी के उतार-चढ़ाव द्वारा भाषण में भावाभिव्यक्ति का प्रकटीकरण करता है। दुःखद दुर्घटना का, आततायी द्वारा किये गये उत्पीड़न का, शत्रु से भिड़ जाने का, उपलब्धियों पर संतोष व्यक्त करने का, सहयोग-अनुदान का, क्षमा और करुणा का, अवांछनीयता के प्रति रोष प्रकट करने का, व्यंग्य विनोद का सही प्रकटीकरण वाणी के उतार-चढ़ावों के बिना हो ही नहीं सकता। वाद्य-यंत्रों में स्वर सप्तक बने होते हैं। बजाते समय उनके उतार-चढ़ाव का, क्रम-व्यतिक्रम का, आरोह-अवरोह का ध्यान रखते हुए ही स्वर लहरी निनादित होती है। वादकों की कलाकारिता इसी कुशलता पर निर्भर है कि वे यंत्र में बने हुए सप्तकों को किस उतार-चढ़ाव के साथ, किस क्रम विन्यास के साथ बजा सकने में सफल हो सके। सुनने वालों को आनन्द इसी आधार पर आता है और वादक को कुशलता इसी

कौशल के कारण मिलती है। अमुक वक्ता की वाणी से अमृत झरता है, अमुक के भाषणों में जादू है, अमुक की वक्तृता मंत्र मुग्ध कर देती है, जैसे अभिमत बहुत करके इसी आधार पर सुने जाते हैं कि वह अपने कथन प्रवाह स्वरों का संतुलित उतार-चढ़ाव प्रस्तुत करके किस प्रकार श्रोताओं के मन को सरसता की अनुभूति करा सका? यह सोचना उचित नहीं कि लोगों का स्तर उथला होता है, इसलिए वे केवल हँसी-मजाक, निन्दा-स्तुति, क्रोध-प्रतिशोध, छल-रहस्य, पाप-अपराध जैसे ओछे विषयों में ही रस लेते हैं और उत्कृष्ट विचारधारा की उपेक्षा करते हैं, उसमें रस नहीं लेते। वस्तुतः ऐसी बात है नहीं। आदर्शों की दिशा में दिये गये उद्बोधन यदि कलात्मक ढंग से प्रस्तुत किये जा सकें, तो कोई कारण नहीं कि उनका भाव-प्रवाह हृदयस्पर्शी, आकर्षक एवं प्रभावोत्पादक न हो।

न तप्त लोहो लोहेन संधीयते।

“बिना गरम किये लोहा लोहे से नहीं जुड़ता”

भावनाओं की गर्मी पैदा करके मूर्छित लोकमानस को तपाया जाना चाहिए, ताकि उसे आदर्शों के साथ जोड़ा जा सकना संभव हो।

सुंदर और सुडौल होने पर भी अन्यमनस्क मन से हाथ-पैर नचाने वाला नर्तक दर्शकों के मन में गुदगुदी पैदा न कर सकेगा, मधुर स्वर होने पर भी गायक यदि लकड़ी की प्रतिमा की तरह जड़ बना बैठा रहे और ग्रामोफोन के रिकॉर्ड की तरह समाधिस्थ स्थिति में गाता चला जाये, तो सुनने वालों में से किसी को संतोष न होगा। नर्तक को भावविभोर मनःस्थिति में नृत्य करना चाहिए और जिस गीत पर नृत्य हो रहा है, उसके प्रत्येक चरण के साथ बदलते हुए भावों को प्रकट करने वाली मुख मुद्रा बनाये रहनी चाहिए। अंगों का संचालन तो उस सूक्ष्म भावानुभूति के अधिक स्थूल रूप में प्रकटीकरण

के रूप में प्रस्तुत करने के लिए किये जाते हैं। चेहरे से, आँखों से भिन्न भाव टपक रहा हो और अंग शास्त्रीय नियम के अनुसार हिलडुल रहे हों, तो नृत्य एक प्रकार से निष्प्राण ही हो जायेगा। आनन्द तो भाव और क्रिया दोनों के समन्वय से उत्पन्न होता है।

प्रभावोत्पादक गायन के बारे में भी यही बात है। गायक को अपने गीत में भावविभोर होना चाहिए। जिस स्थान पर जो संवेदनाएँ हैं; उनसे गायक पूरी तरह प्रभावित हो रहा है, उस प्रवाह में बह रहा है। इसे देखकर ही सुनने वाले की आत्मा उल्लसित होती है। स्वर का, गीत का, वाद्य का अपना-अपना स्थान है। गायक की आधी सफलता इन तीनों के मिलाने से बनती है और आधी सफलता इस बात पर निर्भर रहती है कि गायक अपने गीत में किस कदर भावविभोर हो रहा था और उसकी वाणी, मुखाकृति, भाव-भंगिमा मुद्रा-विकास से संवेदनाओं का उभार कितनी मात्रा में प्रकट हो रहा था। यह तन्मयता नृत्य एवं गायन की ही नहीं, भाषण की भी प्राण है। जो जड़वत्, भाव शून्य मुद्रा में बैठा कहता चला जाता है, वह और कुछ भले ही हो, भाव प्रवाह की सरस निर्झरिणी बहाने वाला और उपस्थित लोगों के अन्तःकरण को छूने वाला कलाकार तो निश्चित रूप से नहीं ही है।

वाणी के साथ भावाभिव्यक्तियों का समावेश संगीत कला, पाक विद्या, चित्रकारिता आदि जैसी एक विशिष्ट कलाकारिता है। यह सहज भी है और कठिन भी। सहज इसलिए कि यदि मनुष्य वस्तुतः वैसी ही मनःस्थिति में हो तो अनायास ही स्वर में वे उतार-चढ़ाव आते रहेंगे, जो श्रोताओं की अन्तःचेतना में उसी प्रकार की हलचलें उत्पन्न कर सकें। कुशल वक्ता अपनी नाव में बिठाकर उपस्थित जनता को अपनी प्रवाह दिशा में ले जाता है। उसकी

अनुभूति में एकता-समस्वरता स्थापित हो जाती है और सुनने वाले वही सोचने को विवश हो जाते हैं जैसा कि भाषणकर्त्ता सोचता है। यह सफलता विषय की गरिमा का ही नहीं, वक्ता की भावाभिव्यक्ति और कलाकारिता की भी है। वह मुखकृति, अंग संचालन मुद्राभिनय के आधार पर अपने भाषण को प्राणवान् बनाता है। यह सब वे जंजीरें हैं, जिनमें कसी हुई सुनने वालों की विचारशक्ति और भावस्थिति खिंचती चली जाती है। कुशल वक्ता अपने श्रोताओं को वहाँ तक पहुँचा देता है, जहाँ तक पहुँचाने का उसका मनोरथ था। लोकनायकों ने अपने जमाने को बदल देने में, परिस्थितियों को उलट देने में, अप्रत्याशित सफलताएँ अपनी वक्तृत्व शक्ति के आधार पर पाई हैं। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्होंने उन विशेषताओं को प्राप्त किया था, जिनकी चर्चा उपरोक्त पंक्तियों में की गई है।

शब्दों की अपनी शक्ति है, पर उनका गठनक्रम सुव्यवस्थित प्रवाहपूर्व और लालित्य युक्त होना चाहिए। औंधे-सीधे उपयुक्त शब्दों को जोड़-गाँठकर आधी-अधूरी अभिव्यक्ति ही प्रकट की जा सकती है। कई बार इस प्रकार के कथन उलटी उलझन उत्पन्न कर देते हैं और सुनने वालों को उलझन में डाल देते हैं। वे वक्ता का सही प्रयोजन समझने तक में गड़बड़ा देते हैं। ऐसी स्थिति उत्पन्न न होने पाये, इसके लिए शब्दों पर अधिकार होना चाहिए। विषय के अनुरूप उनका गठन और प्रवाह रहना चाहिए। पुस्तक लेखन में जिस प्रकार अमुक लेखकों की शैली बहुत हृदयग्राही होती है और उनकी लिखी वस्तुओं को पढ़ने के लिए लोग लालायित रहते हैं, ठीक उसी प्रकार की स्थिति वक्ताओं में होती है। लेखकों की तरह वे भी अपने शब्द विन्यास में विशाल अध्ययन-प्रवाह क्रम की छाप छोड़ते हैं। यह सब विस्तृत अध्ययन, सूक्ष्म दृष्टि, पैनी पकड़ और उपरोक्त

अभ्यास का प्रतिफल है। वक्तृता एक पूरी योग साधना है, उसे प्रखर बनाने के लिए उपरोक्त साधन जुटाने ही पड़ते हैं। कठिन लगे तो उनसे बच निकलने और सहज कुशलता प्राप्त कर लेने का कोई उपाय नहीं है। यह सब अनिवार्य एवं आवश्यक माना जाना चाहिए और अन्य सफल कलाकारों की तरह वक्तृत्व कला में निष्णात होने के लिए भी अत्यन्त तत्परतापूर्वक एकाकी अभ्यास की अनवरत साधना करनी चाहिए। अपने कौशल को अधिकाधिक निखारने के लिए निरन्तर प्रयत्न करना चाहिए।

यह सब सीखने और अभ्यास में उतारने की आवश्यकता इसलिए पड़ती है, क्योंकि वक्ता का व्यक्तित्व उस उच्चस्थिति का नहीं होता है, जिससे यह सब कुछ सहज स्वाभाविक रूप से अनायास ही होता रहे। जिसका प्रियजन मर गया है, उसे रोने की कला सिखाने की आवश्यकता नहीं पड़ेगी। विछोहजन्य कष्ट की अनुभूति उसकी आँखों से आँसू बहा रही और चेहरे पर विषाद की भरी-पूरी अभिव्यक्ति प्रस्तुत कर रही होगी। जिसे कोई आशातीत सफलता मिली है, वह प्रसन्नता व्यक्त कर रहा होगा। रोना और हँसना तो तब सीखना-सिखाना पड़ेगा, जब वस्तुतः वैसा प्रसंग न होने पर भी दूसरों के सामने उस तरह का भाव प्रकट करना पड़े। महामानवों की भावाभिव्यक्तियाँ बालकों जैसी अकृत्रिम-सहज-स्वाभाविक होती हैं। उन्हें इस संदर्भ में कुछ सीखना-सिखाना नहीं पड़ता। जो भीतर है, वही बाहर निकलता चला आता है। असली ज्वालामुखी सहज ही आग और धुँआ उगलते रहते हैं। फिल्म खींचने के लिए नकली ज्वालामुखी बनाना हो, तो ही यह सतर्कता बरतनी पड़ती है कि कृत्रिम को अकृत्रिम दिखाने में जिस चतुरता की आवश्यकता है, उसमें चूक न होने पावे।

जो हो भावाभिव्यक्तियों का प्रकटीकरण प्रत्येक दशा में आवश्यक है। वस्तुस्थिति सहज हो या कृत्रिम, सुनने वालों को प्रभावित करने के लिए यह जानकारीयाँ प्रत्येक वक्ता को रखनी ही चाहिए। हीरा असली हो या नकली, उसके पहल बनाना, घिसना और कोण बनाना तो दोनों ही स्थितियों में आवश्यक है। असली सोना-चाँदी होने पर भी उसके आभूषण बनाने में लगभग वही सब करना पड़ता है, जो नकली धातु के जेवर बनाने में। तीव्रबुद्धि और मंदबुद्धि दोनों को ही शिक्षित बनाने के लिए पाठ्य पुस्तकें तो वही पढ़नी पड़ती हैं। अन्तर इतना ही है कि स्वस्थ शरीर पर कैसे भी कपड़े फबते हैं और उनका सहज-सौन्दर्य स्वयमेव निखरता रहता है। दुर्बल व्यक्ति को सुन्दर बनाने के लिए कुछ अधिक परिश्रम करना पड़ता है। इतने पर भी नंगे फिरने से तो न स्वस्थ व्यक्ति का काम चलता है, न अस्वस्थ का। सुयोग्य, कर्मनिष्ठ व्यक्ति भी यदि भाषण कला के नियमों और रहस्यों से अपरिचित, अनभ्यस्त होंगे, तो उन्हें अभीष्ट प्रभावोत्पादन में सफलता न मिलेगी। इसके विपरीत इस कौशल में निपुण व्यक्ति कम से कम तत्काल तो बहुत कुछ प्रयोजन सिद्ध कर ही लेंगे।

यहाँ यह कहा जा रहा है कि वक्ता को अपने प्रतिपाद्य विषय में वस्तुतः प्रामाणिक होना चाहिए। उससे उसकी अभिव्यक्तियाँ सहज, स्वाभाविक होंगी और थोड़ी-सी खराद कर देने पर वे असली हीरे की तरह जगमगाने लगेंगी। इस दिशा में जितनी कमी होगी उतनी ही कृत्रिमता, सतर्कता, चिरकालीन अभ्यास की आवश्यकता पड़ेगी। वक्तृत्व कला की सफलता में भावाभिव्यक्तियों की उपयोगिता का ध्यान रखना और अभ्यास करना तो हर हालत में आवश्यक ही माना जायेगा।

सभा मंच पर जाने से पूर्व इन बातों का ध्यान रखें

आयोजन में उपस्थित लोग केवल श्रोता ही नहीं होते, साथ-साथ ही वे 'दर्शक' भी होते हैं। अक्सर सभा मंच के समीप खिसककर आ बैठने की लोग चेष्टा करते रहते हैं। लाउडस्पीकर की सहायता से बात दूर बैठकर भी सुन ली जाती है; पर ठीक तरह से देख सकना निकट से ही बन पड़ता है। इसी उत्सुकता की तृप्ति के लिए लोग निकट से वक्ता को देखने के भी इच्छुक रहते हैं। इस देखने की आकांक्षा के पीछे व्यक्तित्व की परख करने की इच्छा काम करती है। आँखों से देखकर किसी व्यक्तित्व की एक सीमा तक झाँकी ही प्राप्त की जा सकती है।

आकृति की बनावट तो जैसी कुछ भगवान् ने बनाई है वैसी ही रहती है, पर उसकी भावभंगिमा देखने, हँसने, बात करने, बैठते समय अपनाये गये ढंग से उसके व्यक्तित्व के बारे में बहुत कुछ जानकारी प्राप्त हो सकती है। कपड़े कैसे, किस ढंग से पहिने हैं और अंगों की हरकतें क्या हो रही हैं, यह देखकर लोग बहुत कुछ अनुमान लगा लेते हैं और उसमें बहुत कुछ सही भी होता है।

किसी का ज्ञानवान्, बुद्धिमान्, धनवान्, सत्तावान्, गुणवान् होना एक बात है और प्रतिभावान्, व्यक्तित्ववान् होना दूसरी। केवल ज्ञानवान् होना ही पर्याप्त नहीं, वक्ता को व्यक्तित्ववान् भी होना चाहिए। यह बहुत कुछ मनुष्य की सावधानी से सम्बन्धित है। जिनके स्वभाव में असावधानी, उपेक्षा, आलस्य और अव्यवस्था होगी, उनके व्यक्तित्व का मूल्य सहज ही बहुत कुछ घट जायेगा। इन त्रुटियों का होना भी शिष्टता, चरित्र संबंधी त्रुटि मानी जायेगी। चोर-उचके ही चरित्रहीन नहीं माने जाते; गन्दे, फूहड़, अस्तव्यस्त, असावधान और आलसी

लोग भी किसी कदर चरित्र दोषी ही गिने जाते हैं। सभ्यता और शिष्टता की परिधि में सतर्कता का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है।

मैले-कुचैले, कटे-फटे, बेढंगे, बेतरतीव खुले बटन कपड़े अपने धारण करने वाले की चुगली करते हैं और परोक्ष रूप से दर्शकों को बताते हैं कि जिसने हमें धारण कर रखा है, वह अस्त-व्यस्त और आलसी प्रकृति का है। उसी ने हमारी ऐसी दुर्गति कर रखी है। सतर्क निर्धन होने पर भी थोड़ा-सा श्रम करके अपने वस्त्रों को स्वच्छ-व्यवस्थित कर सकता है, पर जिसे इन बातों का ध्यान ही नहीं, वह या तो स्थितप्रज्ञ परमहंस होना चाहिए या फिर फूहड़, असामाजिक। बेढंगी और कुरुचिपूर्ण पोशाक दर्शकों के मन पर बुरा प्रभाव छोड़ती है। वक्ता-नेता या मार्गदर्शक कहा जाता है। ऐसे व्यक्ति से ज्ञानी ही नहीं, व्यवस्था और बुद्धि सम्पन्न होने की भी आशा की जाती है। उसमें त्रुटि होने से निराशा होती है।

आँखों में कीचड़ या काजल-सुरमा, नाक के छेद से बाहर झाँकते हुए बड़े-बड़े बाल, बात करते समय दाँत और होंठों पर चिपकते हुए धूक के तार, बढ़ी हुई हजामत जैसे चिह्न देखकर सहज ही यह अनुमान लगाया जा सकता है कि इस व्यक्ति को अपने महत्त्वपूर्ण अंगों की स्वच्छता तक का ध्यान नहीं तो यह और किस काम में व्यवस्थित होगा ?

कुछ ऐसे दार्शनिक, कवि, कलाकार हुए हैं, जो अपने तरीके से बाल रखाते थे। यह उनकी स्वाभाविक रुचि रही होगी या कलाकारिता। उसी की हू-ब-हू नकल करके, वैसे ही बाल रखाकर कई व्यक्ति स्वयं उन्हीं की प्रतिमूर्ति सिद्ध करना चाहते हैं। सिनेमा के एक्टर जैसा वेश बनाते हैं। सिनेमाबाज भी उसकी नकल उतारने लगते हैं। वीटल और हिप्पियों की विचित्र दार्शनिकता उनके बिखरे

और बेतुके बालों के साथ जुड़ गई है। नकली हिप्पी, नकली मजनू का एक्टिंग करने वाले दो कदम और बढ़ जाते हैं। वे भी आँखों को ढकने वाले बाल बिखेरे फिरते हैं। अमुक कवि या कलाकार की नकल कई छिछोरे व्यक्ति उनके बालों के आधार पर बनाते देखे गये हैं। स्तर के वक्ता अपने को ऐसा अवधूत बनाकर नहीं चलते। छिछोरापन और बड़प्पन के बीच जो अन्तर होना चाहिए, उन्हें उसकी जानकारी रहती है, तदनुसार वे सतर्कता भी बरतते हैं।

दाँतों से नाखून काटना, बार-बार सिर, पेट, गरदन आदि खुजलाना, जाँघों पर तबला बजाने की तरह थपकी लगाना, कंधे उच्चकाना, आँखें मिचकाना, मूँछें मरोड़ना, नाक या कान में अंगुली डालना, बात-बात में दाँत निकालना, पास बैठे व्यक्ति से बातें करने में उसकी बाँहें फँकड़ना, झकझोरना, पास रखी चीजों को इधर-उधर करते रहना जैसी हरकतें कई आदमियों की आदतों में सम्मिलित हो जाती हैं। पीछे उन्हें यहाँ तक पता नहीं रहता कि इन बेतुकी आदतों का देखने वालों पर कैसा प्रभाव पड़ता है और वे उसके व्यक्तित्व को घटिया मान बैठते हैं। ऐसी मान्यता बहुत हद तक सही भी होती है, क्योंकि बेतुकापन एक ऐसी बीमारी है, जो केवल अंगों तक, कपड़ों तक, हरकतों तक सीमित नहीं रहती, वरन् मनुष्य की व्यवस्थाबुद्धि, चरित्रनिष्ठा, व्यवहारकुशलता, चिन्तन पद्धति एवं प्रामाणिकता को प्रभावित करती है। प्रायः इस तरह के व्यक्ति असफल एवं गैरजिम्मेदार देखे जाते हैं। ऐसी हरकतें यदि कोई वक्ता बैठा-बैठा स्टेज पर कर रहा हो, तो सुनने के साथ देखने के भी इच्छुक उसके व्यक्तित्व का घटियापन भाँप जायेंगे और उसका भाषण सुनने के पूर्व ही आधी श्रद्धा खो देंगे। आधा मूल्य तो इस प्रकार के बेतुकेपन द्वारा ही नष्ट कर दिया जाता है।

अपने ज्ञान की ही नहीं, व्यक्तित्व की छाप भी वक्ता को उपस्थित समुदाय पर छोड़नी चाहिए। अस्तु, उसे अपने शरीर एवं बालों की स्वच्छता, सुव्यवस्था का पहले से ही ध्यान रखना चाहिए। मंच पर जितने समय बैठना है, कम से कम उतने समय तक तो बेतुकी हरकतें नहीं ही करनी चाहिए। अनावश्यक परस्पर वार्तालाप करना, पुस्तक पढ़ने बैठ जाना, इधर-उधर आँखें नचाना, मुँह फाँड़कर जँभाई लेना, अंगड़ाई लेना, इशारेबाजी करना आदि मंच-शिष्टाचार के विपरीत है।

शरीर की बनावट या मुखाकृति तो नहीं बदली जा सकती; पर उसे थोड़ी सतर्कता बरतने पर प्रभावोत्पादक अवश्य बनाया जा सकता है। वक्ता की बात सुनने ही लोग नहीं आते, वरन् उसका व्यक्तित्व भी देखते हैं। यों किसी की प्रतिभा, वरिष्ठता का मूल्यांकन तो उसके गुण, कर्म, स्वभाव का, अब तक के चरित्र एवं कर्तृत्व का परिचय-विश्लेषण करके ही किया जा सकता है; पर उसकी छोटी झलक-झाँकी करा सकने में उसे देखना भी सहायक होता है। यही कारण है कि लोग वक्ता को देखने के लिए मंच के नजदीक बैठना पसंद करते हैं। पूरा भाषण न भी सुन सकें, तो कम से कम 'दर्शन' करके ही कुछ संतोष कर लेते हैं। वक्ता जब मंच पर बैठता है और अपनी बात कहना आरम्भ करता है, तो सहज ही सभी दर्शकों की आँखें उस पर जा टिकती हैं। कान सुनते हैं और आँखें देखती हैं। इस देखने के साथ-साथ दर्शकों की आँखें वक्ता के व्यक्तित्व में से कोई चीज ढूँढ़ना-खोजना चाहती हैं और उस आधार पर यह जानने का प्रयत्न करती हैं कि आखिर वह है क्या?

वक्ता को अजनबी की तरह, बोलने की मशीन की तरह मंच पर बिठा देना और उसे अपना प्रवचन शुरू करने का इशारा कर देना अनुपयुक्त है। उसका परिचय दिया जाना चाहिए। वह भी ऐसा

जिससे सुनने वालों पर उनके व्यक्तित्व की छाप पड़ती हो और प्रतिपादित विषय पर उसकी विचारणा एवं निष्ठा का उत्साहवर्धक परिचय मिलता हो। उसमें उपस्थित लोगों की उत्सुकता बढ़ जाती है। केवल प्रवचन से ही नहीं, प्रवचनकर्ता के व्यक्तित्व से भी लोग प्रभाव ग्रहण करते हैं। इसलिए सभा संचालक को संक्षिप्त किन्तु तथ्यपूर्ण परिचय देकर ही वक्ता से अपनी बात आरम्भ करने का अनुरोध करना चाहिए।

यह कार्य दूसरों का ही है। वक्ता स्वयं अपना परिचय देने लगे और वह भी डींगें हाँकने जैसा, तो इससे उसका मान बढ़ेगा नहीं, घटेगा ही। लोग उसे शेखीखोर-अहंकारी आदि मानने लगेंगे। इस प्रकार बात बिलकुल उलटी हो जाती है। एक सज्जन भाषण के मूल विषय से उतरकर अपनी शेखीखोरी पर उतर आये। इतना दान दिया, इतनी संस्थाएँ चलाई, इतने लोकोपयोगी कार्य किये, इतने विरोधियों को इस प्रकार पछाड़ा आदि बातें जब बढ़ती गईं, तो उकता कर एक व्यक्ति उठ खड़ा हुआ—“धन्य है महाराज, आप न होते तो धरती का भार कौन उठाता! उपस्थित जन-समुदाय के चेहरे पर एक व्यंग्य भरी मुस्कराहट दौड़ गई और उन्हें लज्जित होकर अपना भाषण वहीं समेटना पड़ा। ऐसी भूलें वक्ताओं को नहीं ही करना चाहिए। अपने मुँह मियाँ मिट्टू बनने के मनुष्य के छिछोरेपन का सार्वजनिक भाषणों में तो बचाव करना ही चाहिए।

आत्मश्लाघा-अपने मुँह मियाँ मिट्टू बनाना मनुष्य के छिछोरेपन का चिह्न है। अपनी बड़ाई अपने मुँह शोभा नहीं देती। दूसरे वैसे कुछ कहें तो ही उचित है। ओछे मनुष्य अपना बड़प्पन सिद्ध करने वाली बातों अथवा घटनाओं को बार-बार समय-कुसमय दुहराया करते हैं। वे यह तक भूल जाते हैं कि यही बातें वे पहले भी कई बार

सुना चुके हैं और बार-बार उन्हीं बातों के कहने से सुनने वालों पर क्या असर पड़ेगा? अपना अनावश्यक-अप्रासंगिक बखान करना शिष्टाचार का उल्लंघन करना है। इससे प्रकट होता है कि यह मनुष्य दूसरों पर अपने बड़प्पन की छाप डालने के लिए कितना आतुर हो रहा है। यह आतुरता किसी व्यक्ति की शालीनता प्रकट नहीं करती, वरन् दूसरों की आँखों में गिराती है। शेखीखोर का उद्देश्य मूर्खों में किसी कदर पूरा होता हो तो बात दूसरी है, विचारशीलों के समक्ष उसकी प्रतिक्रिया खराब ही होती है। आत्मश्लाघा की निंदा करते हुए शास्त्रकार कहते हैं-

आत्मा न स्तोतव्यः

-चाणक्य सूत्र

“अपनी स्तुति अपने आप मत करो। अपने मुँह मियाँमिट्टू न बनो।”

परैः स्तुते गुणो यस्तु निगुऽणोपि गुणी भवेत्।

इन्द्रोपि लघुतां याति स्वयं प्रख्यापितैर्गुणैः ॥ -महाभारत

“दूसरों के मुख से प्रशंसा होने पर निर्गुणी भी गुणी मान लिए जाते हैं; अपने मुँह से प्रशंसा करने पर इन्द्र भी लघुता को प्राप्त हो जाता है।”

भाषण कितनी देर लेगा, यह पहले से ही निश्चित रहता है। उतनी ही देर में विषयों का विभाजन इस प्रकार करना चाहिए कि बात ठीक तरह पूरी हो जाये। आवश्यक नहीं कि विचारों को प्रकट करने के लिए लम्बा समय ही लगाया जाये। तथ्यों का समावेश करके महत्त्वपूर्ण वार्ता थोड़े समय में भी पूरी की जा सकती है। बहुत समय बोलना हो और तथ्य थोड़े हों, तो कथा-प्रसंगों को मिलाते हुए अपनी बात की पुष्टि में कितने ही घटनाक्रम-संस्मरण जोड़े जा सकते हैं और वक्तृता को रोचक तथा लम्बी बनाया जा सकता है। ठीक इसी प्रकार तथ्यों को यथाक्रम नपे तुले शब्दों में

प्रस्तुत करते हुए घण्टों की बात मिनटों में कही जा सकती है। यदि वह संक्षिप्तीकरण व्यवस्थापूर्वक और रोचकता को जोड़ते हुए किया जाये, तो कम समय में भी अपनी बात भली प्रकार रखी जा सकती है।

महत्त्वपूर्ण आयोजनों में कितने ही वक्ता आमंत्रित किये जा सकते हैं। उनमें सभी को बोलने के लिए समय दिया जाता है। वे लोग यदि घण्टों बोलने की बात सोचें, तो फिर एक दो को ही बोलने का अवसर मिलेगा, शेष सबको चुप बैठना पड़ेगा। ऐसी गड़बड़ी उत्पन्न करने वाले, निर्धारित समय से ज्यादा खींचने वाले, अपना गौरव बढ़ाते नहीं, घटाते हैं। वक्तृता की क्षमता अधिक होने की छाप छोड़ने के स्थान पर वे व्यवस्था और अनुशासन की अवज्ञा करने वाले अदूरदर्शी ठहराये जाते हैं। विदेशों में ४५ मिनट का पूर्ण भाषण माना जाता है। उनमें इतने तथ्य रहते हैं कि सुनने वालों को अच्छी स्तर की प्रचुर मात्रा में विचार-सामग्री मिल जाती है। यह सामान्य सभाओं की बात हुई। विशिष्ट सम्मेलनों, गोष्ठियों एवं कमेटी मीटिंगों में हर किसी को अपनी बात संक्षेप में ही रखनी पड़ती है। वक्ता की एक विशेषता यह भी है कि जब उसे संक्षेप में कहना पड़े तो कम समय में ही अपनी बात के हर पक्ष को व्यवस्थित रूप में प्रस्तुत कर सके।

बहुत-सा शब्दजाल खड़ा करके सुनने वालों को उसमें उलझा देना वक्तृता का गौरव नहीं है। उसकी महत्ता इसमें है कि कम शक्ति खर्च करके सुनने वालों के हृदय में उस सारतत्त्व का प्रवेश करा दिया जाये, जो वक्ता को अभीष्ट है। इसके लिए वार्ता को बहुत लम्बी खींचने की आवश्यकता नहीं है। जितने शब्द बोलने आवश्यक हैं, उतने का ही प्रयोग करके यह उद्देश्य पूरा किया जा सकता है। सारतत्त्व ध्यान में रखकर चलना चाहिए कि हमें श्रोताओं को कहाँ पहुँचाना है—उनको कहाँ ले जाना है? लक्ष्य स्पष्ट होगा, तो दिशा भी

ठीक रहेगी और चलना भी योजनाबद्ध रहेगा। वक्ता जब बोलने के लिए बोलता है; जो जी में आता है, वही कहता चला जाता है, तो बहुत बकझक करने पर भी सुनने वालों को हलका-सा मनोरंजन और बोलने वालों की उछलकूद देखने के अतिरिक्त और कुछ नहीं मिलता; यह अनुचित है।

बर्क कहते थे-“कम बातें करो-कम लोगों से बातें करो और काम की बातें करो।”

जे कृष्णमूर्ति ने लिखा है-“कम बोलो, तब बोलो जब यह विश्वास हो जाये कि जो बोलने जा रहे हो, उसमें सत्य, न्याय और नम्रता का व्यतिक्रम न होगा।”

वाणी में नम्रता, मिठास और मुहब्बत भरने का महत्त्व बताते हुए शेखसादी ने कहा है-“मीठी जबान, मुहब्बत और मुस्कान से बँटा हुआ एक धागा उच्छृंखलता के मदमस्त हाथी को जकड़कर बाँध सकता है।”

कटु और कर्कश शब्दों की भर्त्सना करते हुए ‘हदीस’ में कहा गया है-“ताने कसने वाला, कर्कश बोलने वाला, दुष्ट प्रकृति का मनुष्य धर्म को नहीं जानता”

वाणी के संयम और परिष्कार के सम्बन्ध में शास्त्रकारों के कुछ वचन इस प्रकार हैं-

मितं च सारं वचो हि वाग्मिता।

-नैषध

“थोड़ा और सारयुक्त बोलना ही वाणी का पाण्डित्य है।”

यो मुखा सञ्जतो भिक्खु मन्त भाषी अनुद्धतो।

अत्थं धम्मञ्ज दीपति मधुरं तस्स भासित ॥

“जो वाणी का संयमी है, मनन करके बोलता है, नम्रतापूर्वक

कहता है, भौतिक-आत्मिक लाभ की बात करता है, उसी का भाषण मधुर है।"

तास्तु वाचः सभा योग्या याश्चित्ताकर्षणक्षमाः ।

स्वेषा परेषां विदुषां द्विषाम विदुषामपि ॥

"सभा में ऐसी परिष्कृत वाणी बोलनी चाहिए, जो अपनों को, परायों को, विद्वानों को, अविद्वानों को, यहाँ तक कि शत्रुओं को भी आकर्षण और ध्यान देने योग्य प्रतीत हो।"

जिह्वायाश्छेदनं नास्ति ताल्वश्च भेदनम् ।

अर्थस्य च व्यये नास्ति वचने का दरिद्रता ॥

मीठा बोलने में जीभ कटती नहीं, तालु में छेद नहीं होता, धन भी खर्च नहीं होता, फिर मधुर वचन बोलने में दरिद्रता क्यों ?

शब्दाडम्बर को बहुत बढ़ा देना, छोटी-सी बात का बहुत विस्तार करना, अनावश्यक भूमिका बनाना वक्ता का गुण नहीं, दोष है। अब फालतू समय काटने की समस्या नहीं रही, ताकि बैठा-ठाला आदमी निरर्थक गपशप सुनकर मनोरंजन करता रहे। अब व्यस्तता बढ़ रही है और लोग कम समय में अधिक लाभ प्राप्त करने की दृष्टि रखने लगे हैं। ऐसी दशा में समय की माँग है कि वक्ता अल्पभाषी बनें। जो बात जितने समय में कही जा सकती है, उसे उतने में ही पूरी कर दें; शैतान की आँत की तरह उसे बढ़ाते ही न चलें। अन्य वक्ता भी सभा में होते हैं, उनको भी उचित अवसर मिलना न्याय संगत है। जनता कई व्यक्तियों के विचार सुनना चाहती है। ऐसी दशा में प्रत्येक विवेकवान् वक्ता के लिए यही उचित है कि वह सारयुक्त शब्दावली का प्रयोग करके अपना मन्तव्य संक्षेप में, किन्तु भली प्रकार स्पष्ट कर दे। वाचाल कहलाने की भर्त्सना के भाजन न बनें।

सुकरात के पास एक वाचाल युवक भाषण कला सीखने आया। उसके लिए उन्होंने दूनी फीस माँगी। आश्चर्य से युवक ने पूछा कि मैं तो पहले से बोलने का अभ्यस्त हूँ। तब भी मुझसे दूनी फीस क्यों? इस पर सुकरात ने कहा-तुझे बोलना ही नहीं, चुप रहना भी सिखाने में दूना श्रम करना पड़ेगा।

इस संदर्भ में नीतिकारों की कही गई कुछ उक्तियाँ बहुत ही मार्मिक और ध्यान देने योग्य हैं-

“जो अधिक जानता है, वह कम बोलता है और जो कम जानता है, वह अधिक बोलता है।”

“शब्द उन पत्तों की तरह हैं, जो अधिक घने होने पर निष्कर्ष रूपी फल को अपनी आड़ में छिपाकर बैठ जाते हैं।”

“जितना ज्यादा बोला जायेगा, लोग उसे उतना ही कम स्मरण रखेंगे।”

बहु वचनमल्पसारं यः कथयति प्रलापी सः।

“जिसके भाषण में शब्द अधिक हों और सार कम, उसे प्रलापी-बकवादी कहते हैं।”

अदक्ष वक्ता अक्सर यह भूल करते रहते हैं कि आरंभिक भूमिका के भाग को अनावश्यक रूप से बढ़ाते चले जाते हैं और जब समय पूरा होने को होता है, तो महत्त्वपूर्ण तथ्यों को जल्दी में निबटाते हैं। यह ऐसा ही हो गया, जैसे किसी का हाथ बहुत लम्बा और अंगुलियाँ बहुत छोटी हों। समस्वरता और संतुलन बनाने में ही सुन्दरता और कलाकारिता है। दिनचर्या वही बुद्धिमत्तापूर्ण है, जिसमें महत्त्व सुविधा की दृष्टि से सभी आवश्यक कामों में यथाक्रम रखते हुए सीमित समय में फुर्ती के साथ किये जाते हैं। छोटे कामों में अधिक समय लगा देने से बड़े कामों के लिए अवकाश न बचेगा।

व्यस्त और बुद्धिमान् लोग अपने समय का उपयुक्त विभाजन कर दिनचर्या बनाते हैं। समझदार व्यापारी अपनी अर्थक्षमता को ध्यान में रखते हुए कारोबार फैलाते और बजट बनाते हैं। कुशल वक्ता को भी अपने भाषण-समय का ठीक इस प्रकार विभाजन करना पड़ता है कि उसमें तथ्यों को उनके महत्त्व की दृष्टि से समय एवं स्थान दिया जाये। जो इन बातों का ध्यान नहीं रखते उनके भाषण असंतुलित और अव्यवस्थित माने जायेंगे, भले ही सामान्य श्रोताओं को उस भूल का पता न चले।

भाषण की लम्बाई नहीं, उसकी सारगर्भिता सराही जाती है। महत्त्वपूर्ण बातें कम समय में भी अच्छी तरह कही जा सकती हैं। जॉर्ज तृतीय के शासनकाल में इंग्लैंड की पार्लियामेंट एक महत्त्वपूर्ण बिल पर विचार कर रही थी। समर्थन और विरोध में वातावरण उग्र हो रहा था। वस्तुस्थिति को अच्छी तरह समझाने के लिए लॉर्ड चैथम से अनुरोध किया गया। वे कुशल वक्ता और सुलझे हुए मस्तिष्क के सदस्य थे। उन्हें एक घण्टा समय दिया गया। इस पर विरोधी पक्ष ने आपत्ति की। प्रतिपक्षी जानते थे कि लॉर्ड चैथम के विचार बिल के समर्थन में हैं। यदि वे अधिक समय तक बोलेंगे, तो उनकी बात गिर जायेगी। उन्होंने एक घण्टा समय को बहुत अधिक बताया और उसे कम करने पर जोर दिया। अन्ततः लॉर्ड चैथम ने स्वयं ही कटौती कर दी और पाँच मिनट पर्याप्त बताये। इतने कम समय में ही इतनी सारगर्भित बातें उन्होंने कहीं कि सारा विवाद दूर हो गया और प्रतिपक्षी स्वयं सहमत हो गये। बिल सर्व सम्मति से पास हो गया। प्रतिपादन की दक्षता प्राप्त हो, तो पन्द्रह मिनट में किसी विषय को बड़ी अच्छी तरह प्रस्तुत किया जा सकता है। प्रबुद्ध परम्परा के अनुसार तो पैतालीस मिनट पूर्ण एवं पर्याप्त माने जाते हैं। समय अति

मूल्यवान् है; वक्ता का ही नहीं, श्रोताओं का भी। अनावश्यक अपव्यय हर क्षेत्र में बुरा माना जाता है। भाषण के संदर्भ में भी यही बात है। विचारशीलता और व्यस्तता बढ़ने के साथ-साथ भाषणों की लम्बाई घटाने और उनमें तथ्यों की गहराई बढ़ाने पर जोर दिया जाने लगा है। आगे चलकर इसी अनुशासन का पालन कड़ाई के साथ होने लगेगा। वक्तृता का स्तर उठाने के लिए यही उचित और आवश्यक भी है।

कई बार वक्ता को बिना लाउडस्पीकर के ही बोलना पड़ता है। ऐसी दशा में आवाज ऊँची रखनी चाहिए, ताकि सब लोग आसानी से पूरी बात सुन सकें। आरम्भ में ही यह देख लेना चाहिए कि लाउडस्पीकर ठीक काम करता है या नहीं। यदि गड़बड़ी हो, तो उसके ठीक होने तक रुकना चाहिए, ताकि बीच में गड़बड़ी उत्पन्न न हो। इसी प्रकार यदि बिना लाउडस्पीकर के बोलना पड़ता है, तो लोगों को लम्बाई की अपेक्षा घेरा बनाकर मंच के आसपास बैठने को कहना चाहिये और आवाज ऊँची रखकर बोलना चाहिए।

सुनने वाले पूरी बात सुन और समझ सकें, इसके लिए यह आवश्यक है कि उच्चारण स्पष्ट और प्रवाह मध्यम गति का हो। जल्दी-जल्दी बहुत-सी बातें कहने के लोभ में कई वक्ता रेलगाड़ी जैसी दौड़ लगाते हैं। इससे शब्द आपस में उलझते हैं—सुनने वालों का मस्तिष्क उस तेज गति को ठीक तरह पकड़ने, समझने में असमर्थ रहता है। ऐसी कठिनाई उत्पन्न होने न पावे, इसके लिए आवश्यक है कि शब्द प्रवाह में अनावश्यक तेजी न लाई जाये। उच्चारण को स्पष्ट रखा जाये। एक के बाद दूसरे शब्द इस गति से बोले जाने चाहिए कि वे उलझने न पायें और सामान्य मस्तिष्क और सामान्य शिक्षा वालों को भी पूरी बात सुनने-समझने का अवसर मिल जाये।

भाषण का स्तर गिरने न दे

~~~~~

विचारों की उपयोगिता का ध्यान रखना वक्ता का पवित्र कर्तव्य और महत्त्वपूर्ण उत्तरदायित्व है। निःसार-निरर्थक बातें भी मनोरंजक बनाकर लोगों को सुनाई जा सकती हैं और उस विनोद का रस लेने के लिए श्रोताओं को देर तक रोके रहा जा सकता है। बौद्धिक श्रम से बचने वाले अविकसित मस्तिष्क वालों के लिए तो प्रवचन भी एक मनोरंजन का स्थल ही होता है। वे तभी बैठते हैं जब हलकी-फुलकी हँसाने-गुदगुदाने वाली सामग्री मिलती रहे। कई वक्ता लोकरंजन में प्रवीणता प्राप्त करते हैं और जनता को देर तक रोके रहने को अपनी लोकप्रियता बताते हैं। सभी संयोजक भी अक्सर ऐसे ही लोगों को बुलाते हैं। आकर्षण का यह उथला तरीका वस्तुतः विचारशीलता का उपहास है। विदुषकों को बुलाकर रीछ-बन्दर नचाने अथवा बाजीगरी जैसा खेल दिखाकर बच्चों को इकट्ठा कर लेना और कुछ समय उन्हें हँसाते-गुदगुदाते रहना बालबुद्धि के संयोजकों और घटिया वक्ताओं का ही काम है। समय बहुमूल्य है। मंच व्यासपीठ की तरह पवित्र है, वहाँ से मार्गदर्शन और लोकशिक्षण ही होना चाहिए। लोकरंजन नहीं, लोकमंगल की भूमिका निभानी चाहिए और व्यास की श्रद्धास्पद पदवी की गरिमा नष्ट नहीं होने देनी चाहिए।

भाषण में आवेश एवं उत्तेजना का दिखाया जाना वक्ता का अच्छा गुण नहीं है। कोई अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण बात हो तो अलग, अन्यथा सीधे, सरल, सौम्य और शालीन ढंग से प्रवाहपूर्ण ओजस्वी और संतुलित शैली में ही बोलना चाहिए। बात-बात में उत्तेजित होना, आवेशग्रस्त होकर बोलना, विरोध पक्ष के लिए अभद्र एवं

अपमानजनक शब्दों का उपयोग करना यह सिद्ध करता है कि वक्ता शालीनता के स्तर से नीचे उतर आया है। जिनका विरोध करने के लिए आवेश प्रकट किया गया था, उन्हें निरस्त कर सकने या न कर सकने की बात तो बहुत पीछे की है, पर अपने प्रति सुनने वालों में अश्रद्धा पैदा हो जाना तो ऐसी क्षति है जो तुरन्त दिखाई देने लग जाती है। इससे बोलने वाला अपनी प्रभाव डालने की प्रामाणिकता ही खो बैठता है। व्यक्ति का, घटना या प्रवृत्ति का विरोध किया जा सकता है, किया जाना चाहिए, पर उसमें सफलता गाली देने से नहीं मिलेगी। बुराई के कारण लोगों को जो क्षति उठानी पड़ती है, उत्पीड़न सहना पड़ता है, उसका करुणाजनक चित्र इस प्रकार खींचना चाहिए कि सताये गये पक्ष के प्रति गहरी घृणा उत्पन्न हो। यही तरीका है, जिससे अपने पक्ष की रक्षा करते हुए प्रतिपक्ष को परास्त किया जा सकता है। अभद्र शब्दों का प्रयोग करने की, क्रोध करने की अपेक्षा यह कहीं अधिक कारगर उपाय है कि अवांछनीयता के द्वारा जो शोषण, उत्पीड़न होता है, उसका रोमांचकारी चित्र खींचा जाये और उस अनाचार के प्रति जनता का रोष उभारा जाये।

भाषण में अत्युक्तियाँ नहीं होनी चाहिए। सामान्य बुद्धि वाले भी यथार्थता और बढ़-चढ़ कर हाँकी गई गप्पों का अन्त समझ लेते हैं। तिल का ताड़ बनाने वाले दूसरों को अधिक प्रभावित करने के लिए किये गये अपने प्रयास में प्रायः असफल ही रहते हैं, उन्हें झूठा और बेपर की उड़ानें उड़ने वाला कहा जाने लगता है।

किसी व्यक्ति विशेष या वर्ग विशेष को दोषी ठहराने की अपेक्षा यह अच्छा है कि उस बुराई पर ही हमला किया जाये, जिसके कारण लोग अनाचारी बनते हैं और अव्यवस्था उत्पन्न करते हैं। पुलिस वाले रिश्तत लेते हैं और अपराधियों को प्रश्रय, प्रोत्साहन

देते हैं। यह कहने की अपेक्षा यों कहना अच्छा है कि "रिश्वतखोरी की बुराई उन सरकारी अधिकारियों को भी अपने चंगुल में जकड़ लेती है, जिनके कन्धों पर अपराधों की रोकथाम का उत्तरदायित्व है। रिश्वत ऐसी बुराई है, जिसका चस्का लगने पर रक्षक ही भक्षक बनने लगते हैं और जिनका दमन करना चाहिए, उन्हीं को प्रश्रय देने लगते हैं।" इन दोनों कथनों में भारी अन्तर है। एक में पुलिस विभाग की ही भ्रष्टाचारी ठहराया गया था, जबकि उसमें सभी वैसे नहीं होते। इन बेईमानों के कारण उनके साथ भी अन्याय होता है जो भ्रष्ट नहीं हैं। किसी वर्ग विशेष को पूरी तरह दोषी ठहरा देना अनुचित है। उचित यही है कि उस बुराई पर हमला किया जाये, जो अनेकों सरकारी और गैर सरकारी विभागों में गहराई तक जड़ें जमाये हुए हैं। यहाँ तक कि वोट देने वाले भी रिश्वत लेकर अपना मत देते देखे गये हैं। व्यापक बुराई के लिए दुष्प्रवृत्ति के प्रति ही घृणा पैदा की जानी चाहिए। एक छोटे वर्ग तक उसे सीमाबद्ध कर देने में औचित्य कम और आवेश अधिक है। वक्ता को दूरदर्शी और यथार्थवादी होना चाहिए। अनुचित कार्यों की भर्त्सना करते हुए कहीं ऐसा न हो जाये कि औचित्य की मर्यादा का अपनी ही ओर से उल्लंघन होने लगे। वक्ता को निष्पक्ष न्यायाधीश जैसी भूमिका निभानी चाहिए।

किसी वर्ग विशेष पर आक्षेप करना अनुचित है; प्रत्येक वर्ग में भले और बुरे लोग होते हैं। यदि पूरे वर्ग की निन्दा की जाये, तो उसकी लपेट में ऐसे लोग भी आ जाते हैं, जो उस वर्ग में होते हुए भी अनौचित्य से बचे हुए हैं; अपना काम ईमानदारी से करते हैं। पूरे वर्ग को लपेटने से उन ईमानदार लोगों को बदनाम होना पड़ता है और उनके साथ अन्याय होता है। रिश्वतखोरी, बेईमानी, अनीति, ढोंगबाजी की भरपूर निन्दा की जा सकती है और जो भी वैसा करते हों, उन्हें

लँताड़ा जा सकता है, पर किसी पूरे वर्ग को दोषी ठहरा देना अनुचित है। अनीति का विरोध करते हुए स्वयं अनीति बरतने लगना, यह अनुचित है। रिश्तत लेने के लिए पुलिस वाले बदनाम हैं, झूठी गवाही गढ़ने में वकील प्रवीण हैं। दूध वाले पानी मिलाते हैं, साधु-बाबा ढोंगी होते हैं आदि आक्षेप एक हद तक सही हैं। इन वर्गों में से ईमानदारी पूर्णतया समाप्त हो गई है और सभी लोग भ्रष्ट बन गये हैं, ऐसा नहीं है। फिर उस वर्ग में से कोई व्यक्ति अपनी मानहानि का दावा अदालत में कर सकता है और वक्ता को दण्ड दिला सकता है।

भाषण से भावों का उतार-चढ़ाव तो होना चाहिए, पर असंतुलित आवेश व्यक्त नहीं करना चाहिए। प्रतिपक्ष के लिए गाली-गलौज पर उतर आना, अत्युक्तियों का उपयोग करना, घटना का एक पक्षीय पहलू रखना, अपने पक्ष को बढ़ा-चढ़ाकर कहना जैसी बातें इसलिए की जाती हैं कि जनमत तत्काल अपने पक्ष में हो जाएगा, पर वैसा होता नहीं। इस असंतुलन और पक्षपात को देखकर जनता उसकी प्रामाणिकता में संदेह करने लगती है। आवेशग्रस्त और पक्षपाती व्यक्ति अविश्वसनीय माने जाते हैं। उन्हें बहकाने वाला समझा जाता है। ऐसे लोगों के प्रामाणिक तथ्य भी संदिग्ध दृष्टि से देखे जाते हैं और सोचा जाता है कि उनमें भी अत्युक्ति तो नहीं बरती गई है! वक्ता को अपनी प्रामाणिकता के प्रति संदेह उत्पन्न न होने देने के लिए संतुलित रहना चाहिए। प्रतिपक्ष की मान्यताओं एवं गतिविधियों का तर्कसंगत, सभ्य, शालीन शैली में निराकरण करना उत्तेजना प्रयोग की अपेक्षा कहीं अधिक स्थायी प्रभाव उत्पन्न करता है।

अप्रामाणिक आँकड़े प्रस्तुत करने की अपेक्षा यह अच्छा है कि उस बात को बिना आँकड़ों के कहा जाये। "भारत में हर दिन दस लाख या एक करोड़ बच्चे जन्म लेते हैं।" ऐसा कहने की



अपेक्षा यदि तथ्य सही रूप में मालूम न हो तो इतना ही कहना काफी है कि अपने देश में बच्चों का होना इतनी तेजी से हो रहा है जिसके कारण समस्याएँ और उलझनें बेहिसाब बढ़ने की संभावना है। किसी सड़क की लम्बाई मालूम न हो, या बाँध की लागत के सही अंक विदित न हों, तो कुछ भी अंक प्रस्तुत करने लगना बुरा है। जो वास्तविकता को जानते हैं, वे उस कथन को मूर्खतापूर्ण समझेंगे। पीछे वास्तविकता का पता लगने पर अन्य लोग भी उस बात को गलत ठहरावेंगे। यह वक्ता पर गलत बयानी का आक्षेप है। जो बातें सही मालूम नहीं हैं, उनके संबंध में गोल शब्दों का प्रयोग करते हुए अपना अभिमत व्यक्त करना चाहिए।

कटुवचन और परामर्शों ने संसार में जितनी विपत्ति उत्पन्न की है, उतनी शायद सब बुराइयाँ मिलकर भी न कर सकी होंगी। बर्क ने यथार्थ ही कहा है—“संसार को दुःखमय बनाने वाली विपत्तियाँ अधिकतर दुष्ट शब्दों के कारण ही उत्पन्न होती हैं।” जीसस क्राइस्ट का एक उपदेश है—“सर्प-विष से भी अधिक जहरीले कटुवचनों के दाँत अपने साथियों के हृदय में मत घुसाओ। वे उन्हें सहन न कर सकेंगे।” विक्टर ह्यूगो ने एक जगह कहा है— कड़ुवे शब्द इस बात की निशानी हैं कि वक्ता का तर्क-तरकस खाली हो चुका। अब वह दिवालिया होकर गाली-गलौज का ओछा हथकंडा अपना रहा है।

**जिह्वायत्तौ वृद्धिविनाशौ।** चाणक्य सूत्र-४४०

“जीभ ही उन्नति कराती है और वही विनाश के गर्त में धकेलती है।”

“रे जिह्वे कुरु मर्यादां वचने भोजने तथा।

वचने प्राण संदेहो भोजने स्यादजीर्णता॥”

“हे जिह्वा! बोलने और खाने में मर्यादा बरत। अनुपयुक्त

बोलने से प्राण संकट उत्पन्न होता है और अमर्यादित खाने से पेट दुखता है।”

महाभारत रचा देने का, दोनों पक्ष के अगणित योद्धाओं को मृत्युमुख में धकेल देने का उत्तरदायित्व द्रौपदी के उन कटुशब्दों पर है जो संख्या की दृष्टि से तो कम थे; पर अपमानित करने की दृष्टि से विष बुझे तीर जैसे सिद्ध हुए। उसने कौरवों पर व्यंग्य करते हुए कहा कि “अन्धों के अन्धे ही होते हैं।” यों इस उच्चारण में अक्षर ९ ही होते हैं, पर वे कितने मर्मभेदी बने, इसे हर कोई जानता है। अपमान से क्रुद्ध सर्प की तरह फुसकारते हुए कौरव द्रौपदी को, उसके परिवार को नीचा दिखाने को आतुर हो उठे। प्रतिशोध ने ही उन्हें अड़ियल बनाया, अन्यथा जहाँ तक कुछ भूमि का, धन का संबंध था, वह बात आसानी से समझौता स्तर पर पहुँच सकती थी। द्रौपदी का जुए में जीतकर उसे भरी सभा में नंगा करने से लेकर पाण्डवों के विनाश के लिए रची गई अनेक दुरभिसंधियों के पीछे प्रतिशोध की ही प्रधान भूमिका थी। उसी ने इतने बड़े जन-समुदाय को, इतनी प्रतिभाओं को भूमिसात् करके रख दिया। महाभारत समाप्त होने के बाद मिली विजय और पराजय भी कोई उद्देश्य पूरा न कर सकी। पीछे परिस्थिति और भी उलझती चली गई। इस दुर्भाग्यपूर्ण प्रकरण के पीछे वे कटुशब्द ही अट्टाहास करते दिखाई पड़ेंगे, जो द्रौपदी के मुख से जाने या अनजाने निकल गये थे। शब्द की शक्ति प्रचंड है। उनका प्रयोग दुधारी तलवार जैसा है। उससे इतना बड़ा हित और अनहित हो सकता है, जिसे अप्रत्याशित कहा जा सके। इसीलिए मनीषियों ने विचारपूर्वक मुँह खोलने और फूँककर वाणी का उपयोग करने का निर्देश दिया है। साथ ही चेतावनी दी है कि अवांछनीय सम्भाषण अत्यन्त दुःखद हो सकता है। इसी प्रकार नीति

ग्रन्थों में मधुर संभाषण को वशीकरण मंत्र जैसी आकर्षक उपमायें देकर उसके अभ्यस्त होने के लिए कहा गया है।

मर्मभेदी व्यंग्य, आक्षेप, दोषारोपण, कटुभाषण करना वक्ता का दोष है। उससे उसकी असहिष्णुता और उद्धत मनःस्थिति का परिचय मिलता है। लोग समझते हैं कि कटुवचनों का उपयोग करके अथवा प्रतिपक्ष की आवेशपूर्ण भर्त्सना करके सुनने वालों को आसानी से प्रतिपक्ष का विरोधी बनाया जायेगा; पर होता है उससे ठीक उलटा ही। दो व्यक्तियों की लड़ाई में एक अनाप-शनाप गाली बक रहा हो और दूसरा हाथ जोड़े सिर झुकाये खड़ा हो, तो देखने-सुनने वाले गाली देने वाले को ही दोषी ठहराते हैं, भले ही मूल में उस नम्र खड़े व्यक्ति ने ही अक्षम्य अपराध क्यों न किया हो। कटुवचन गाली के बराबर है और उससे पहली हानि अपनी ही होती है। अपना स्तर तत्काल घट जाता है और प्रभाव तथा शक्ति बुरी तरह नष्ट हो जाती है।

निरहंकारी और विनम्र व्यक्ति कटुवचन नहीं बोल सकते। मर्मभेदी शब्द तो उस उद्धत, अहंकारी के मुख से ही निकलते हैं, जो दूसरों को तुच्छ समझता है और उनका तिरस्कार करने में नहीं चूकता। कटुवचन बोलें-मीठी वचन कहें, यह अभ्यास का विषय नहीं, आन्तरिक स्थिति पर निर्भर है। नम्रता अपनाई जाये, निरहंकार बना जाये, अहमन्यता हटाई जाये और दूसरों का सम्मान करने की सज्जनता अपनाई जाये, तो स्वतः ही कटुशब्दों का उच्चारण घटता चला जायेगा। जहाँ स्नेह, सौजन्य होगा, वहाँ असहिष्णुता दृष्टिगोचर न होगी। लोगों को स्वजन सुहृद की दृष्टि से देखा जाये, उनके कार्यों में सौम्य सुधार की बात सोची जाये, तो जिनसे आये दिन झगड़ा होता रहता है, उनसे भी साधारण वार्तालाप के सहारे तालमेल बिठाया और सद्भाव बनाये रखा जा सकेगा।

आन्तरिक सद्भावना की वृद्धि और कटु-कर्कश भाषण की पुरानी आदत को निरस्त करने की ठान ली जाये, तो वाणी के उद्धत, असंयमी होने का दोष दूर हो सकता है। बोलने से पहले सोचना; थोड़ा नम्र और सारगर्भित बोलना, सामने वाले के सम्मान और अपने सौजन्य की रक्षा करते हुए बोलना यदि निरन्तर ध्यान में बना रहे, तो वाणी सहज ही सुसंस्कृत होती चलेगी। वाणी को अमृत बरसाने वाली और दूसरों का हृदय जीतने वाली इसी मार्ग पर चलाते हुए बनाया जा सकता है। प्रभावशाली वक्ता बनने का ठोस उपाय यही है।

वक्ता का आवश्यक गुण नम्रता बताया गया है। वाणी को परिष्कृत और शैली को माधुर्य और सज्जनता से भरी रखने के लिए कहा गया है। मार्गदर्शक सदा ऐसा ही परामर्श देते रहे हैं-

“हमारी जिह्वा में शहद जैसी मधुरता भरी हो। हम आदि से अन्त तक मधुरता से ओत-प्रोत रहें।”

अथर्ववेद में कहा गया है-

“हमारी वाणी पवित्र, ओजस्वी और मधुर हो।”

-अथर्ववेद

“वाणी को उच्छृंखल न होने दो। बोलते समय सतर्कता बरतो। इस तरह बोलो जैसे शालीन लोग बोला करते हैं।”

-धम्मपद

भ्रष्टवाणी तन को नष्ट करती है। कटुभाषी निकृष्ट है और शापग्रस्त।

-गुरुग्रन्थ साहब

दक्षः श्रियमधिगच्छति, पथ्याशी कल्पतां सुखमरोगी।

उद्यमयुक्तो विद्वान्तां, धमार्थं यशोऽस्ति च विनीतः ॥

-हितोपदेश

“निपुण व्यक्ति संपत्ति पाता है। पथ्य भोजन करने वाला निरोग रहता है, उद्यमी विद्वान् बनते हैं और विनम्र को धर्म, धन, यश प्राप्त होता है।”

शुक्रनीति में कहा गया है—“नम्रता के तीन लक्षण हैं—कड़वी बात का मीठा उत्तर देना, क्रोध आने पर चुप रहना, अपराधी को दण्ड देते समय सहृदयता बरतना।”

ऐसी सूक्तियों की कमी नहीं जिनमें कुछ कहने से पूर्व वाणी को सुसंस्कृत बनाने का ध्यान रखने का परामर्श दिया है, यथा—

**नमन्ति फलानि वृक्षा, नमन्ति विबुधा नराः।**

“फलवान् वृक्ष नमते हैं और बुद्धिमान् व्यक्ति भी नम्रता अपनाते हैं।”

अप्रासंगिक, असंबद्ध बातें कहकर भाषण को दिशाविहीन, लक्ष्यरहित बना देना बहुत बुरा है। प्रायः तथाकथित सत्संगों में बेसिलसिले की असंबद्ध बातें होती रहती हैं और किसी निष्कर्ष पर न पहुँचाकर ऐसे ही सुनने वालों को हवा में इधर-उधर उड़ते पत्रों की तरह उड़ाती रहती हैं। घर जाते समय वक्ता सोच नहीं पाता है कि उसने क्या कहा, क्या समझाया गया और किस निष्कर्ष पर पहुँचने की प्रेरणा दी गई? ऐसे बिखरे हुए भाषण चाहे जितने रोचक क्यों न हों, लक्ष्य भ्रष्ट होने के दोषी कहलायेंगे। सुनने वालों को क्या प्रेरणा देनी है, उन्हें किस निष्कर्ष पर पहुँचाना है, यह ध्यान में रखते हुए अपने कथन का स्पष्ट लक्ष्य वक्ता के सामने रहना चाहिये और उसी दिशा में क्रमबद्ध रूप से ऐसे तथ्य प्रस्तुत करते रहना चाहिए। सीमित मर्यादा में अधिक गंभीर विवेचन करने से ही वक्ता का गौरव बढ़ता है और सुनने वाले का समय सार्थक होता है। हँसी-मजाक के, इधर-उधर के, बेसिलसिले के, किस्से-कहानियाँ सुनाने से

केवल विनोद, मनोरंजन हो सकता है। उससे भाषण की सार्थकता, वक्ता की गरिमा सिद्ध नहीं होती।

भाषण में रोचकता का समावेश रखा जाये, पर इसका अर्थ यह नहीं कि भाषण को मसखरी, दिल्लीबाजी, गपशप मात्र बनाकर उसका स्तर ही समाप्त कर दिया जाये। भाषण मार्गदर्शन एवं अभीष्ट चेतना उत्पन्न करने के लिए किये जाते हैं और वह प्रयोजन सिद्ध न हो सका, तब तो सभा को मनोरंजक अभिनय-प्रहसन ही कहा जायेगा। दाल में नमक ठीक है, पर नमक में दाल डाल दी जायेगी, तो उपयोगिता ही नष्ट हो जायेगी।

वक्ता को स्पष्टवादी होना आवश्यक है। लोगों को मन सुहाती बात न कही जा सके तो सुनने वाले नाराज होंगे। इस भय से अपने मन की बात को छिपाना उचित नहीं। हर आदमी को अपनी आत्मा के सामने सच्चा होना चाहिए और विचारों के प्रति ईमानदार। हर बात हर समय कहने की आवश्यकता नहीं होती, पर जब जहाँ जो बात स्पष्ट करनी आवश्यक है, वहाँ उसे इसलिए नहीं दबाया-छिपाया जाना चाहिए कि सुनने वाले उससे असहमत या रुष्ट होंगे। वक्ता का काम लोकरंजन नहीं, लोकमंगल है। उसे लोगों की रुचि एवं मान्यताओं का समर्थक बनकर नहीं, उन्हें मार्गदर्शन करने वाला होकर चलना चाहिए। इस प्रयोजन के लिए सच्चाई का प्रतिपादन कर सकने की स्पष्टता और निर्भीकता का होना आवश्यक है।

लोग अपनी रूढ़िवादिता को छोड़ने के लिए सहज ही तैयार नहीं होते। सच्ची सीख का सर्वत्र स्वागत ही नहीं होता, वरन् आरम्भ में उसका विरोध-निरादर भी होता है। सिसरो का यह कथन बहुत करके ठीक ही है कि—“सच्ची सीख का कदाचित् ही स्वागत होता है। जिनको उन विचारों की अत्यधिक आवश्यकता है, आश्चर्य है

कि वे ही उनका सबसे अधिक निरादर करते हैं। सुधारकों को पग-पग पर ऐसी असहमति और अवज्ञा का सामना करना पड़ता है। इससे विचलित न होने के लिए परामर्श देते हुए सन्त विनोबा कहते हैं कि जो सुधारक अपने संदेश के अस्वीकृत होने पर क्रोधित हो जाता है, उसे सावधानी, प्रतीक्षा और प्रार्थना की साधना करनी चाहिए।

**सभा वा न प्रवेष्टव्या वक्तव्यं नासमंजसम्।**

-महाभारत

“सभामंच पर या तो जाये ही नहीं, यदि जाये तो अपना मन्तव्य स्पष्ट करें। उलझी-उलझी अण्ट-सण्ट बातें न कहे।”

**अप्रियस्य च पथ्य वक्ता श्रोता च दुर्लभः।**

-पंचतंत्र

“परिणाम में हितकर; किन्तु सुनने में अप्रिय लगने वाली बात को कहने और सुनने वाले कोई-कोई ही होते हैं।”

**अब्रुवन् विब्रुवन् वापि नरो भवति कित्वषी।**

“सभा में अनीति के विरुद्ध न बोलने अथवा अनीति बोलने से मनुष्य पापी बनता है।”

भाषण के आरम्भ में शिष्टाचार व्यक्त करने की एक शालीन परम्परा है। यदि उसे कृत्रिम न बना दिया जाये, तो सभी संयोजकों और श्रोताओं के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करने के साथ जुड़ी हुई आत्मीयता और विनयशीलता को भी व्यक्त करती है।

“मुझ जैसे सामान्य व्यक्ति को अपने सम्मुख विचार व्यक्त करने का अवसर देकर आप लोगों ने मुझे जो सौभाग्य प्रदान किया है, उसके लिए हृदय से कृतज्ञ हूँ। आप जैसे सभ्रान्त लोगों का मार्गदर्शन करना मेरे जैसे व्यक्ति के लिए कठिन है, फिर भी आज्ञा

का पालन न करूँ, तो यह मेरी धृष्टता होगी।”

इसी प्रकार—“आप लोगों के बीच उपस्थित होने और अपने कुछ निवेदन प्रस्तुत करने की इच्छा बहुत समय से थी। वैसा अवसर देकर आप लोगों ने मुझे जो सौभाग्य प्रदान किया है, उसके लिए सच्चे मन से आभारी हूँ।”

ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी के मैनचेस्टर कॉलेज में एक बार “सर्वधर्म सम्मेलन” आयोजित किया गया और उसमें सर्वपल्ली राधाकृष्णन भी आमंत्रित थे। उन्होंने अपना भाषण आरम्भ करते हुए समय संयोजक संस्था की सराहना करते हुए कहा—“तुलनात्मक दृष्टि से धर्म-विज्ञान पर विचार करने के लिए आपकी संस्था ने जो परम्परा प्रारम्भ की है, उससे मानवीय विवेक को नई दिशा मिली है। आपकी प्रकाशित पुस्तक “सैक्रेड बुक ऑफ़ दी ईस्ट” ने न जाने कितने लोगों को अभिनव चिन्तन की ओर प्रेरणा दी है। उसी संदर्भ में आपके द्वारा आयोजित यह सम्मेलन इस चेतना को और भी आगे बढ़ाता है। अपने महान् प्रयत्नों में आपने एक नगण्य समर्थक, सहयोगी मुझे भी मान लिया और कुछ विचार व्यक्त करने का अवसर प्रदान किया। इसे मैं अपना सौभाग्य ही मानूँगा और आप लोगों के प्रति गहरा आभार प्रदर्शित करना चाहूँगा।”

संयोजकों और उपस्थित लोगों की सदाश्रुता की चर्चा यदि भाषण के आरम्भ में कर दी जाये, तो वातावरण में अधिक अनुकूलता आ जाती है।

दैनिक समाचार पत्रों में बहुधा कुछ समाचार लम्बे और विस्तारपूर्वक छपते हैं। सम्पादक उन्हें आरम्भ करने से पूर्व दो-तीन लाइनों में कुछ बड़े अक्षरों में उस समाचार का सारांश जोड़ देते हैं, जिससे पढ़ने वालों को उस विवरण का पूर्वाभास हो जाता है और



वह अपनी रुचि के अनुरूप ध्यानपूर्वक पढ़ता है। यह तरीका भाषण के लिए भी उपयुक्त है। प्रवचन का उद्देश्य एवं सारांश क्या है, यह बताते हुए अपना प्रतिपादन आगे बढ़ाया जाये, तो सुनने वालों का मस्तिष्क यह आभास प्राप्त कर लेता है कि उसे क्या सुनने को मिलेगा। यदि ऐसा न किया जायेगा, तो सुनने वालों का मस्तिष्क उलझन में पड़ा रहेगा और इस निर्णय पर न पहुँच सकेगा कि उसे क्या बताया जा रहा है तथा किसी को 'स्वाधीनता दिवस' पर बोलने को कहा जाये और वह आरम्भ में महात्मा गाँधी की चर्चा को विस्तारपूर्वक कहते हुए भाषण करने लगे, तो सुनने वाले यह अनुमान लगा सकते हैं कि भाषण गाँधी जी के जीवन प्रसंगों पर होने जा रहा है। पीछे जब महात्मा गाँधी और स्वतंत्रता की और फिर 'स्वाधीनता दिवस' की चर्चा होने लगेगी, तब वह समझ पायेगा कि भाषण गाँधी जी के जीवन चरित्र पर नहीं, 'स्वतंत्रता दिवस' पर हो रहा है। यदि आरम्भ में ही भाषण के स्वरूप का आभास करा दिया जाये, तो सुनने वालों के मस्तिष्क को निष्कर्ष के सम्बन्ध में निश्चिन्तता हो जायेगी और अनावश्यक ताक-झाँक करनी न पड़ेगी।

ऐसे प्रसंग पर कहा जा सकता है—“स्वतंत्रता प्राप्ति की महान् उपलब्धि पर भारतीय जनता गौरवान्वित हुई है। इससे हमें अपने भाग्य को बनाने-बिगाड़ने का अधिकार मिला है। अपनी योग्यता प्रदर्शित करने और अपने भविष्य निर्माण का अधिकार मिलना बहुत बड़ी बात है। जिन शहीदों और महामानवों की कृपा से हम सब गौरवान्वित हुए हैं, उनको श्रद्धाञ्जलि अर्पित करना हमारा पावन कर्तव्य है। जिन महामानवों ने स्वतंत्रता संग्राम में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी, उनमें महात्मा गाँधी का नाम अति आदरपूर्वक लिया जाता है। उनके व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व की चर्चा करना इस अवसर पर

अप्रासंगिक न होगा। वे....।”

धार्मिक प्रवचनकर्त्ताओं का उत्तरदायित्व सामान्य वक्ताओं की अपेक्षा कहीं अधिक है। कारण कि उनकी बातों को श्रद्धापूर्वक सुना जाता है और देवता, ऋषि, भगवान्, अवतार आदि के चरित्र एवं वचनों की भरमार रहने से भावुक जनता उन पर सहज विश्वास कर लेती है। विचार प्रधान भाषणों में गुण-अवगुण, उचित-अनुचित परखने की छूट रहती है, पर धर्ममंच से जो कहा जा रहा है, वह तो शास्त्र वचन, देव चरित्र होने के कारण श्रद्धापूर्वक स्वीकार करने योग्य माना जायेगा। इन प्रसंगों में यदि अनैतिक आचरणों का, अवांछनीय उदाहरणों का समावेश हो, तो निश्चय ही उन्हें सुनकर उन दुष्प्रवृत्तियों को अपनाने की प्रेरणा लोग ग्रहण करेंगे।

सफेद कपड़े पर जहाँ धब्बे लगे होते हैं लोगों को प्रायः वे ही निगाह में आते हैं। लोग गुण कम देखते हैं, अच्छाई कम परखते हैं, दोष ही उनकी पकड़ में पहले आते हैं। सच्चरित्रता के सौ उपदेशों के रहते हुए भी लोग उन बातों को चावपूर्वक सुनेंगे, जिनमें अवांछनीय चर्चाएँ हैं। “जब देवता और ऋषि ऐसा करते रहे हैं, तो हमें वैसा करने में क्या दोष है? प्रायः लोगों की बुद्धि इसी दिशा में चलती है। अस्तु, कथा वर्णन में थोड़े भी अनुपयुक्त चरित्र चित्रण रहे हों, तो लोग उनके अलंकार रहस्यों को समझने की अपेक्षा अवांछनीय अनुकरण को अपनाने का ही प्रोत्साहन प्राप्त करेंगे।”

कथावाचकों को इस संदर्भ में विशेष ध्यान रखना चाहिए। केवल प्रेरक प्रसंग ही कहने चाहिये और ऐसे चरित्र, जिन्हें सर्वसाधारण के लिए प्रेरक न कहा जा सके, उन पर पर्दा ही डाले रहना चाहिए। इस सतर्कता की इस बुद्धिवादी युग में अत्यधिक आवश्यकता है।

प्राचीनकाल में परिस्थितियाँ भिन्न थीं। उस समय के अनेकों

प्रचलन अब असामयिक हो गये हैं। विकृतियों के साथ मिलकर वे पूर्व मान्यताएँ अब अन्धविश्वासों, रूढ़ियों, और मूढ़मान्यताओं का रूप धारण कर चुकी हैं। उन्हें अपना ने से किसी का कोई भला नहीं। ऐसे वचनों को अधिक उत्साह के साथ कहना और उन पर जोर देना यह सिद्ध करता है कि वक्ता युगधर्म नहीं समझता। षशुबलि, सती प्रथा, छुआछूत, मांसाहार जैसे अनुपयुक्त प्रसंग यदि कहीं आते भी हैं, तो उनकी चर्चा न करके उन्हीं बातों पर जोर देना चाहिए, जो युग की आवश्यकता पूरी करती हैं और सामाजिक समस्याओं का समाधान प्रस्तुत करती हैं। पौराणिक कथा प्रसंगों का विस्तार आकाश-पाताल जितना है, उनमें से केवल उपयोगी और प्रेरणाप्रद अंश चुनना और उन्हें चरित्र निष्ठा, समाज निष्ठा उत्पन्न करने वाली शैली में कहना आज के धर्मोपदेशकों के लिए उचित है।

ऐसी विद्वत्ता जिसमें विवेकशीलता का गहरा पुट न हो, जो मात्र लकीर पीटती हो और उचित-अनुचित का भेद न करती हो, प्रशंसा के योग्य नहीं। अविवेकपूर्ण विद्वत्ता मूढ़मान्यताओं से ग्रसित हो जाती है और उचित के स्थान पर अनुचित को लोगों के मन में बिठा देती है। आज के धर्म प्रवचन प्रायः ऐसी ही भ्रान्तियाँ और अवांछनीयता उत्पन्न करते हैं, जिनसे अविवेक बढ़ता है और अनाचार को समर्थन मिलता है। ऐसे अविवेकी विद्वानों की शास्त्र ने भर्त्सना की है।

कई बार वक्ता आपस में उलझ पड़ते हैं। विवाह-शादियों में कन्या और वर पक्ष के पंडित लोग चोचें लड़ाते हैं। भौंडे सम्मेलनों में एक ही मंच पर उसी पक्ष के वक्ता अपना बड़प्पन जताने के लिए एक-दूसरे का खण्डन करते देखे जाते हैं। यह बहुत ही भद्दा तरीका है। इससे उस मंच और वक्ताओं की प्रतिष्ठा गिरती है।

अपने पक्ष का तथ्यपूर्ण प्रतिपादन ही विरोधी पक्ष की सबसे बड़ी काट है। नाम ले-लेकर विरोधियों को गाली देना और उनके प्रतिपादन को अभद्र शब्दों में दुष्टतापूर्ण सिद्ध करना, वक्ता द्वारा अपने ही पक्ष को दुर्बल सिद्ध करना है। तर्कों को काटना पर्याप्त है। व्यक्ति और वर्ग का उल्लेख किये बिना भी जब भ्रम निवारण हो सकता है, तो उथले तरीके पर क्यों उतरा जाये ?

हमेशा विवाद में पड़ने से बचना चाहिये। इससे प्रतिपक्षी को अनावश्यक ख्याति मिलती है। सम्भ्रान्त व्यक्तियों के विरुद्ध विवाद खड़ा करके छोटे लोग कई बार उनके प्रतिपक्षी के समान स्तर प्राप्त करना चाहते हैं। उन्हें उतने सस्ते तरीके से इतना बड़ा लाभ नहीं उठाने देना चाहिए।

अक्सर विवादों का उद्देश्य जिज्ञासा नहीं होती। जिज्ञासु को सभा में ही विवाद खड़ा करने की आवश्यकता नहीं होती, वरन् वह अवकाश के समय मिलकर या लिखकर अपना समाधान कर सकते हैं। वितण्डावादी लोगों के प्रायः उद्देश्य होते हैं—१. लोगों की छिन्द्रान्वेषण बुद्धि को भड़काकर वक्ता को नीचे गिराना, २. अपनी स्पष्टवादिता की छाप लोगों के मन पर जमा कर सस्ते में नामवरी हासिल करना। सदाशयतापूर्ण निराकरण करने वालों के तरीके दूसरे हैं। वे विचार विनिमय के लिए उपयुक्त समय प्राप्त करते हैं और किसी बात को प्रतिष्ठा का प्रश्न नहीं बनने देते। सार्वजनिक विवाद खड़ा होते ही प्रतिष्ठा का प्रश्न उपस्थित हो जाता है। कोई अपनी हेठी नहीं चाहता। अतः दोनों ही पक्ष अपनी बात पर अड़ जाते हैं। सही-गलत तर्क और तथ्य प्रस्तुत करके दर्शकों के सामने अपनी प्रतिष्ठा को पक्की करना चाहते हैं, ऐसी दशा में इस वितण्डावाद का परिणाम द्वेष को बढ़ाने और दर्शकों के मन में विभ्रम उत्पन्न करने के

सिवाय और कुछ नहीं हो सकता। प्रतिपक्षी तर्कों का, आक्षेपों का अपनी सामान्य भाषण प्रक्रिया में समावेश करके निराकरण करना एक बात है और विवाद उलझाना दूसरी। बुद्धिमानों का विवादकर्ता वितण्डावादियों की बातों को मजाक या उपेक्षा में डालकर टाल देना ही उचित है।

डिजराइली कहते थे—“तर्कों का उत्तर तो दिया जा सकता है, पर विवादकर्ताओं को समझा सकना संभव नहीं।”

एलकाट का कथन है—“विवाद तो मूर्ख भी कर सकते हैं, पर संतुलित विचार विनिमय कर सकना विवेकवान्-बुद्धिमानों के लिए ही सम्भव है।”

लेनिन ने एक बार कहा था—“एक मूर्ख एक मिनट में इतने प्रश्न पूछ सकता है, जितने का उत्तर एक दर्जन बुद्धिमान् एक दिन में नहीं दे सकते।”

कुछ नीति वचन और भी विचारणीय हैं—

वक्तारो दुर्दुरा यत्र तत्र मौनं हि शोभते।

“जहाँ अनर्गल प्रचार करने वालों का बाहुल्य हो, वहाँ बुद्धिमान् का चुप रहना ही उचित है।”

परस्परं संवदता खलानां,

मौन विधेयं सततं सुधोभिः।

“जहाँ उद्धत लोग परस्पर वाद-विवाद में ही उलझे हों, वहाँ बुद्धिमानों का मौन रहना ही ठीक है।”

शंका समाधान के नाम पर भी अक्सर वितण्डावाद ही उठ खड़ा होता है। प्रश्नोत्तर का तरीका किसी जमाने में बहुत अच्छा था। सुकरात उसी शैली को अपनाते थे; पर अब तो वक्ता का, उसके मत का उपहास उड़ाना और उपस्थित लोगों के सामने वक्ता को जलील

करना और अज्ञानी ठहराना ही प्रश्नों का प्रयोजन रहता है। लोग सभा के शुरू में या अन्त में खड़े होकर तरह-तरह के प्रश्न पूछते हैं। इनका उद्देश्य वक्ता की काट करना और उसे नीचा दिखाने के अतिरिक्त और कुछ नहीं होता। ऐसे प्रश्नोत्तरों में वक्ता को अपने मूल विषय से भटककर शंका समाधान के जंजाल में फँस जाना पड़ता है और उसके भाषण का लक्ष्य ही नष्ट हो जाता है।

शंका समाधान एवं प्रश्नोत्तर आमंत्रण करने का मतलब है, सभा का अन्त विवादास्पद बनाना और श्रोताओं पर पड़ने वाली छाप का बखेरना या नष्ट करना। इसलिए अपनी ओर से इस प्रकार उकसाने की भूल तो करनी ही नहीं चाहिए। पूछने के इच्छुकों को निर्धारित समय पर निवास स्थान पर आने और उत्तर देने की संक्षिप्त सी बात कहकर प्रसंग को टाल देना चाहिए। आज की स्थिति में यही बुद्धिमत्तापूर्ण है। न वाद-विवाद खड़ा होने देना चाहिए और न प्रश्नों का जंजाल। सभा संयोजकों को इसका पूरा ध्यान रखना चाहिए।

सभा में वाद-विवाद खड़े नहीं होने देने चाहिए और न प्रश्नोत्तर का जंजाल खड़ा करना चाहिए। पुराने जमाने में शास्त्रार्थों की शैली प्रचलित थी। विचार-विनिमय का नाम ही उन दिनों शास्त्रार्थ था। सद्भावना पूर्ण परस्पर विचारों का आदान-प्रदान करना, अपने अवांछनीय संशयों का निवारण, दूसरों के योग्य प्रतिपादनों का स्वागत करने की बुद्धि उनमें काम करती थी। हार-जीत का कोई प्रश्न न था। अज्ञान हारता था और ज्ञान जीतता था। मनुष्य सत्य को प्राप्त करने की दिशा में क्रमिक विकास से ही अपनी यात्रा करता हुआ यहाँ तक पहुँचा है। पूर्ण सत्य की प्राप्ति अभी दूर है। जो आरम्भिक दिनों में जाना गया था, उसे मध्यकाल में सुधारना पड़ा,

जो मध्यकाल में माना जाता था, उसमें क्रमिक सुधार होता चलेगा। इस सुधार प्रक्रिया की गति तीव्र करना और सत्य की शोध में निष्पक्ष विवेक का अधिक उत्साह के साथ प्रयोग करना ही तब शास्त्रार्थ का लक्ष्य था। इसलिए उनकी उपयोगिता भी थी।

आज स्थिति वैसी नहीं है। लोगों में पूर्वाग्रह का विष कूट-कूटकर भर गया है। हर व्यक्ति अपनी बात को सही और दूसरे की बात गलत सिद्ध करने पर उतारू रहते हैं। पक्षपात से ऊँचा उठकर यथार्थ चिंतन कर सकने जैसी विवेकबुद्धि विदा हो गई है। येन केन प्रकारेण पक्ष समर्थन और दूसरे को परास्त करना ही लक्ष्य है। विवाद प्रतिष्ठा का प्रश्न बनते हैं। हर कोई स्वीकार नहीं करता। दोनों ही जीत का डंका बजाते हैं और इस विग्रह में मतभेद दूना और चौगुना बढ़ जाता है। अस्तु, विवादों को हम सभा में उपस्थित नहीं होने देना चाहते।

असेम्बलियों में शासक पक्ष और प्रतिपक्ष में झड़पें होती रहती हैं। अदालत में पक्ष और विपक्ष के वकीलों को जोर-शोर से अपने मुवक्किलों की वकालत करते हुए कौतूहलपूर्वक देखा जा सकता है। छात्रों के वाद-विवाद में भी रस लिया जा सकता है। दंगल में पहलवान लड़ते देखे जा सकते हैं। पिछड़े वर्ग के लोगों द्वारा पशु-पक्षियों की कुश्ती लड़ाकर जो भौंड़ा मनोरंजन किया जाता है, उसे भी भर्त्सनापूर्ण दृष्टि से देखा जा सकता है। युद्धों के ये स्वरूप रस लेने के लिए पर्याप्त हैं। विद्वानों और मार्गदर्शकों के बीच इस प्रकार के विवाद-युद्ध खड़े करना आज की स्थिति में सर्वथा अवांछनीय है।



## आरम्भिक कठिनाई का समाधान -आधी सफलता

प्रवचन का अभ्यास क्रम यह है कि सर्वप्रथम एकाकी, बाद में मित्र-प्रियजनों के साथ, तदुपरान्त परिवार के समूह में, इतना बन पड़ने के बाद बाहर जाने, गोष्ठियों में बोलने एवं मंच सम्भालने का अभ्यास करना चाहिए। एकाएक बिना तैयारी के मंच पर जा बैठने और बिना पूर्व तैयारी के बोलने लगने पर जब प्रवाह बन नहीं पड़ता, तो लगता है कि लोग जाने क्या सोचेंगे? मूर्ख माना जायेगा और हँसी उड़ेगी। ऐसे विचार मन में आते ही मस्तिष्क उलझन और असमंजस से भर जाता है और जो कुछ सरलतापूर्वक बोला जाता था, वह भी ध्यान से उतर जाता है। इस हड़बड़ी में न बोलते बनता है और न चुप रहते। न चल देने की हिम्मत रहती है और न बैठे रहने की। ऐसी उलझन में फँसे हुए लोग कुछ कहते और पसीना-पसीना होते देखे गये हैं। उस स्थिति से बचने के लिए यही उचित है कि क्रमबद्ध रूप में कइयों के साथ सम्भाषण या मंच पर बैठकर भाषण करने की तैयारी करनी चाहिए।

वार्तालाप हर कोई कर सकता है; पर उन्हीं के साथ, जिनसे झिझक खुली हुई हो, मैत्री हो, साथ-साथ रहना बन पड़ा हो या घनिष्ठ परिचय हो। संकोच की दीवार ही वार्ता में अड़चन डालती है, जीभ सभी की एक-सी है। न किसी के मुँह में फिसलन है जिस पर जीभ लुढ़कती चली जाए और न किसी के जबड़े में झाड़ियाँ उगी हैं, जो कुछ कहने में रास्ता रोकें। वह जब मित्र-साथियों के साथ धड़ल्ले के साथ घंटों बोला जा सकता है, तो कोई कारण नहीं कि उद्देश्यपूर्ण वार्तालाप में कोई कठिनाई आड़े आये। कोई अड़चन आड़े आये। लड़कियाँ अपनी सहेलियों के साथ घंटों गपशप करती



रहती हैं। लड़के भी पीछे कहाँ रहते हैं। तीसरे प्रहर जब महिलाएँ घर के कामकाज से छुट्टी पाती हैं, तो मिल-बैठकर न जाने कहाँ-कहाँ कहनी-अनकहनी बोलती-सुनती रहती हैं। बुढ़े भी जब समय काटने को बैठते हैं, तो अपने उठते दिनों की कड़वी-मीठी बातें एक-दूसरे के सामने प्रकट करते हुए मन हलका करते हैं। बस चले तो कोई इस वार्ताक्रम को समाप्त न करे; क्योंकि यह भी खेलने की तरह मधुर और आनन्ददायक होता है, इस पर्यवेक्षण से स्पष्ट है कि जीभ की बनावट में, स्वर यंत्र में, कंठ की उच्चारण पेशियों में कदाचित् ही किसी में ऐसी कमी होती हो, जिसके कारण उसे भाषण या संभाषण में असमर्थता प्रकट करनी पड़े और अपने को इसके लिए अयोग्य मानना पड़े।

इस संदर्भ में अड़चन मात्र मनोवैज्ञानिक है। अजनबी को देखकर छोटे बच्चे अचकचा जाते हैं और सहमकर सुरक्षित स्थान में, अभिभावकों के पास जा छुपते हैं। इसमें वास्तविक कारण कुछ भी नहीं है। न तो आगन्तुक कुछ ऐसा व्यवहार करने वाला है, जिसमें बच्चे को डरने की आवश्यकता पड़े और न बच्चे में ही कोई ऐसी कमी है, जिसके कारण आगन्तुक को कुछ उत्तेजित होना पड़े। इस सहज स्वाभाविक मिलन को बहुत से बच्चे प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार कर लेते हैं, उसके पास जा पहुँचते हैं; उठाने पर हँसते हुए गोदी में चले जाते हैं। इससे दोनों की प्रसन्नता बढ़ती है। कई बार तो इस मिलन के साथ कुछ उपहार भी मिल जाता है और बच्चा हँसने-हँसाने से लेकर उपहार पाने तक किसी न किसी नफे में ही रहता है, जब कि संकोची बच्चे असमंजस में डूबे, उस उपस्थिति वाले समय में झेंपते-झिझकते इधर-उधर मुँह छिपाते फिरते हैं।

लगभग यही मनःस्थिति बहुत बार बड़े होने पर भी बनी रहती है। विशेषतया भाषण-संभाषण के अवसर पर अभ्यास न होने की स्थिति अजनबी बन जाती है और अकारण असमंजस में डुबो देती है। परीक्षा के समय कमजोर तबियत वाले छात्र उसी तरह घबराते देखे गये हैं। प्रश्न वही हैं, जिन्हें सालभर तक पुस्तकों में पढ़ा है। छपे पर्वों में कोई ऐसी बात नहीं है, जो पढ़ी-समझी न जा सके। सामान्य स्थिति में उन पूछे गये प्रश्नों के उत्तर साथियों को फटाफट बताये जा सकते थे; किन्तु परीक्षा हॉल में प्रवेश करने पर यह स्वनिर्मित भयानकता भूत-पलीत जैसी डरावनी बनकर सिर पर आ चढ़ती है और सारे होश-हवास गायब कर देती है। फलतः प्रश्न-पत्र हल करते समय परीक्षार्थी उसका आधा-तिहाई ही लिख पाता है, जितना कि होश-हवास सही रहने पर संचित जानकारी के आधार पर बिना किसी अड़चन के लिख सकता है।

अँधेरे की तरह अनभ्यास की स्थिति भी डरावनी बनी होती है। प्रवास में आमतौर से इतनी कठिनाई नहीं होती है, जितनी कि सोची जाती है और हैरानी बनकर मन को असमंजस में डाले रहती है। कइयों के लिए यह खेल होता है। ट्रैवेलिंग एजेण्ट का काम करने के लिए प्रवास नितान्त सरल स्वाभाविक प्रक्रिया है। सफर करने, ठहरने, दैनिक आवश्यकताएँ पूरी करने से लेकर ग्राहक तलाश करने और ऑर्डर इकट्ठे करने में उन्हें तनिक भी कठिनाई नहीं होती। वे लम्बी जिन्दगी इसी धंधे में गुजार देते हैं। दूसरा काम बताने पर कहते हैं-‘ऐसी मजेदारी अन्यत्र कहाँ मिलेगी।’ सोचते-सोचते हैरान हो जाना, साथी के बिना काम चलते न दीखना, यह बताता है कि प्रवास न तो उतना मजेदार है और न उतना कठिन, जितना कि दो भिन्न प्रकृति के व्यक्ति उसे मान बैठते हैं।

मुख्य कठिनाई अनभ्यास की है। अजनबी डरावना होता तो नहीं पर वैसा लगता है। अँधेरा डरावना लगता है। इसमें आशंकाएँ उठती रहती हैं, जबकि चोर-उचक़े अँधेरे की ही प्रतीक्षा करते रहते हैं और इसी में छिपते-बैठते घात लगाते हैं। अँधेरा-उजाला अपने मन की बनावट से ही भला-बुरा लगता है। कइयों को कमरे में बत्ती जलाकर ही सोते बनता है। कई अँधेरे में ही नींद आने की बात कहते हैं। इसे 'मनःस्थिति' की भिन्नता ही कहना चाहिए। अनभ्यस्त होने, अँधेरे की परिस्थितियों से परिचित न होने के कारण ही डर लगता है, कोल-भील अलग झोपड़ियाँ डालकर बीहड़ वन्य प्रदेशों में रहने के अभ्यस्त होते हैं। उन्हें गाँव बसाकर एक साथ रहने में बुरा लगता है, जबकि कितने ही व्यक्ति जनसंकुल, घर-मुहल्ले में रहते हुए ही सुरक्षा का अनुभव करते हैं।

उपरोक्त उदाहरणों से यह बताने का प्रयत्न किया गया है कि भाषण-संभाषण न कठिन है न सरल। उसी बात को यों भी कहा जा सकता है कि वह सरल भी है, कठिन भी। सरल उनके लिए, जो अपरिचित लोगों के बीच जाकर भी किसी भय या विपत्ति की आशंका नहीं करते। कठिन उनके लिए जो प्रसंग आने पर अपनी अक्षमता और दूसरों द्वारा प्रस्तुत की जाने वाली अग्नि परीक्षा का काल्पनिक डर खड़ा करते हैं और उस अपडर के कारण होश-हवास गँवा बैठते हैं। जिन्हें बोलने का अभ्यास है, वे परिचित के साथ वार्तालाप की तरह ही अजनबी लोगों के साथ अपने विचार धड़ल्ले के साथ प्रकट करते हैं। सड़कों के किनारे मजमा लगाकर माल बेचने और पैसा माँगने वाले मदारी स्तर के लोग जहाँ-तहाँ खड़े देखे जा सकते हैं। कुछ कहना शुरू करते हैं, उनकी आवाज में कड़क और चमक देखकर रास्ते चलते लोग खड़े हो जाते हैं।

देखते-देखते भीड़ का घेरा बँधता है और धंधे बाजी चल पड़ती है। भीड़ का हर व्यक्ति अजनबी था, फिर भी मदारियों को उनके सामने बोलते रहना वैसा ही स्वाभाविक लगता है, जैसा कि यार-दोस्तों में गप्पबाजी का माहौल घंटों चलता रहता है।

भाषण कला में प्रवीणता प्राप्त करने की आधी मंजिल तब पूरी हो जाती है, जब इच्छुक का अपडर उसके मन से किसी न किसी प्रकार निकल जाये, जिसमें वह सोचता है कि "उसमें वैसी योग्यता है नहीं, उसके भाग्य में यह बदा नहीं है। इस कला में कोई बिरले ही प्रवीण हो सकते हैं," आदि-आदि। यह मिथ्या कल्पनाएँ आत्महीनता की प्रतीक हैं। अन्य क्षेत्रों में यह ग्रन्थि प्रगति का रास्ता रोकती है। संकोची, डरपोक प्रकृति के शंकाशील व्यक्ति अड़चनों, असफलताओं की बात सोचते और अवसर टालते रहते हैं। अनिश्चय की स्थिति में समय गुजर जाता है। साथी बढ़ जाते हैं और वे हाथ मलते रह जाते हैं।

यही आत्महीनता वक्तृता के क्षेत्र में मिलने वाली सफलता का द्वार रोकती है। साहस बाजी मारता है। साधन सम्पन्न जो काम नहीं कर पाते, उसे साहसी साधनहीन स्थिति में भी आत्मविश्वास, सूझ-बूझ और क्रिया-कौशल के सहारे कर गुजरते हैं। अन्य क्षेत्रों में जो सिद्धान्त लागू होता है। वही भाषण कला पर भी अक्षरशः लागू होता है। जो भीड़ से नहीं डरते, जिन्हें अपने ऊपर विश्वास है, वे इस क्षेत्र में निश्चित रूप से सफलता प्राप्त कर सकते हैं।

कहा जा चुका है कि जीभ चलाना उतना ही सरल या कठिन है, जितना साइकिल चलाना। उसके अभ्यास में भी पहली बार कइयों को डर लगता है और गिरने, दाँत टूटने, घुटने फूटने, साइकिल बिगड़ने, हँसी उड़ने जैसी आशंका होती है। यदि हड़बड़ा गये, तो

गिर पड़ना भी संभव है। तब साइकिल टूटे या न टूटे, हिम्मत अवश्य टूट जाती है। कइयों के मन पर यह प्रथम दिन की असफलता इतनी हावी हो जाती है कि फिर वे हजार समझाने पर भी उस प्रयास को दुबारा करने के लिए तैयार नहीं होते। एक ओर सीखना इतना कठिन सिद्ध हुआ, दूसरी ओर यह तथ्य भी सामने है कि आठ-आठ वर्ष के बच्चे प्रेम के बीच में घुसकर, हेण्डल पर लटकते हुए भारी भीड़ के बीच होकर उसे दौड़ाते हुए मीलों की दूरी पार करते हैं। दोनों उदाहरणों को देखकर जाना जा सकता है कि इस सीखने में सफलता-असफलता मिलने का प्रधान कारण क्या है ?

सीखने वाले को अपने आपको इसके लिए सहमत करना चाहिए कि यह कार्य कठिन नहीं, सरल है। आरम्भिक दिनों में ही कुछ सावधानी बरतने की आवश्यकता है। अभ्यास के प्रारम्भ में ही थोड़ी सावधानी और साहसिकता की आवश्यकता पड़ती है। यदि वह बन पड़े, तो यह दावे के साथ कहा जा सकता है कि हर व्यक्ति वक्ता बन सकता है। जिसके मस्तिष्क में विचार उठ सकते हैं, उसकी जीभ भी उन्हें प्रकट करने में समर्थ हो सकती है। विक्षिप्तों या आत्म-विश्वास खो बैठने वालों के सम्बन्ध में ही असफल रहने की बात कही या सोची जा सकती है। या तो तत्काल या कभी नहीं आतुरता बरतने वाले क्षणभर में आवेशग्रस्त होकर कुछ भी कर डालने और प्रथम प्रयास में ही सफल होने के रंगीन सपने देखते हैं। साथ ही उस आतुरता में एक दोष भी रहता है कि तनिक सी अड़चन आई और तुरन्त सफलता न मिली, तो धैर्यपूर्वक प्रयत्नरत रहना और कल नहीं तो परसों सफल होकर रहने का संकल्प वे नहीं अपना सकते। पानी के बुलबुलों की तरह देखते-देखते उनका उत्साह समाप्त हो जाता है। ऐसे लोगों को समझना और समझाया

जाना चाहिए। अनवरत गतिशील रहने वाला कछुआ उतावले खरगोश के साथ बाजी जीतने में सफल हुआ। छोटे कदम बढ़ाती हुई चींटी कुछ ही दिनों में योजनाओं का सफर कर लेती हैं और पहाड़ की चोटी तक जा पहुँचती हैं। अनवरत श्रम का महात्म्य कालिदास और वरदराजाचार्य जैसे उन असंख्यों के मुँह सुना जा सकता है, जो तनिक-सी असफलता मिलने पर हिम्मत छोड़ बैठे थे; पर जब उन्होंने नये सिरे से निरन्तर अथक श्रम करने का निश्चय किया, तो वे संसार के मूर्धन्य मनीषियों की अंग्रिम पंक्ति में जा बैठे। वक्तृता के इतिहास में ऐसे अगणित लोगों के नाम हैं, जो आरम्भ में सर्वथा असफल रहे, उपहासास्पद बने; किन्तु हिम्मत न छोड़ने और अनवरत प्रयत्न करने के फलस्वरूप अपने समय के असाधारण वक्ता सिद्ध हुए। वह उदाहरण हर किसी पर लागू हो सकता है। शर्त एक ही है कि या तो स्वयं ही आत्महीनता की ग्रन्थि खोली जाए या फिर कोई मनस्वी दबाव देकर यह विश्वास कराये कि वह अनवरत श्रम और अटूट विश्वास अपनाने पर निश्चित रूप से सफल होकर रहेगा। पुरुषार्थ से जी चुराने वाले, क्षण में उत्साहित क्षण में निराश होने वाले, सफलता का मूल्य अध्यवसाय के रूप में चुकाने से कतराने वाले ही असफल होते हैं। असफलता का तात्पर्य है—सच्चे मन से पूरा श्रम न किया जाना। इस कमी को किसी प्रकार पूरा किया जा सके, तो असफलताओं की भारी भरकम लाश ढोते रहने वाले, दुर्भाग्य का रोना रोते रहने वाले अपने भाग्योदय का नया अध्याय खुलता देखेंगे। निःसंदेह मनुष्य अपने भाग्य का निर्माता आप है। वह चाहे तो अपने ललाट में अपनी ही कलम से कुशल वक्ता होने की भविष्यवाणी लिख सकता है। इतना छोटा काम करने के लिये विधाता की मनुहार करना कतई आवश्यक नहीं।

किया क्या जाय ? इस संदर्भ में यह नीति अधिक उपयोगी है कि छोटे कदम बढ़ाते हुए अभ्यास आरम्भ किया जाये और परिपक्वता बढ़ने के साथ-साथ बड़ा काम हाथ में लिया जाये। पहले एकाकी फिर घनिष्ठों के साथ शुभारम्भ करने की नीति सही है, इससे क्रमिक विकास में सुविधा रहती है।

एकाकी अभ्यास के कई तरीके हैं। एक यह है कि बड़े दर्पण के आगे खड़े होकर अपने आप को ही एकान्त कमरे में परामर्श देने वाली वार्ता आरम्भ की जाए और देखा जाए कि मुखाकृति के प्रभावशाली होने में कोई कमी तो नहीं रहती। रहती है तो उसे बार-बार सुधारने के लिए तौर तरीके बदल-बदलकर देखना चाहिए और जो मुद्रा, जो शैली उपयुक्त हो, उसे अपनाना चाहिए।

एकाकी कमरे में कई पुस्तकें, कई वस्तुएँ श्रोताओं की तरह पंक्तिबद्ध बिठाकर रखनी चाहिए और उन्हें जन-समुदाय मानकर अपनी वक्तृता आरम्भ कर देनी चाहिए। इससे यह भय न रहेगा कि सुयोग्य व्यक्ति गलती पकड़ेंगे, हँसी उड़ायेंगे। पुस्तकें तो निर्जीव हैं। वे बेचारी आलोचना क्या करेंगी ? जहाँ रख दी गई, वहीं रखी रहेंगी। अपना मन समझाने के लिये उन्हें जन-समुदाय माना जा सकता है और निर्भय होकर-विश्वासपूर्वक प्रवचन क्रम जारी रखा जा सकता है।

यह अभ्यास घर से बाहर जाकर भी किया जा सकता है, खेतों में अनेक पौधे उगे होते हैं। बगीचे में कितने ही वृक्ष होते हैं। नदी किनारे कितने ही छोटे पत्थर पड़े होते हैं। उन्हीं को मनुष्य मानकर उपदेश देने का अभ्यास किया जा सकता है। थोड़े ही दिनों में मन इस निष्कर्ष पर पहुँच जायेगा कि वाणी में कोई दोष नहीं है, जीभ में कोई कमी नहीं है, मुख में फिट किया हुआ भाषण तंत्र

पूर्णतया सही और समर्थ है। इस संदर्भ का असमंजस दूर होने पर बात इतनी-सी रह जाती है कि आत्महीनताजन्य संकोच-भय से पीछा कैसे छुड़ाया जाए ?

इसके लिए मित्र मण्डली की सहायता ली जा सकती है और अपना तथा सभी का प्रवचन अभ्यास करने के लिए छोटी मंडली को विशाल जन-समूह की मान्यता दी जा सकती है। इसमें कोई बाहरी व्यक्ति न होने से हँसी उड़ाये जाने का कोई भय नहीं है, वरन् सफलता पर प्रशंसा और असफलता के कारण बताने का परामर्श मिलते रहने का, अधिक सतर्कता बरतने और अधिक साहस उभारने का अवसर मिलेगा। एक-दूसरे का भाषण-संभाषण ध्यानपूर्वक सुनें, जहाँ अच्छा बन पड़ा उसकी प्रशंसा करें, जो भूल रही उसे बतायें, उसे सुधारने का उपाय समझ में आये तो सुझावें। इस प्रकार चार-छः मित्रों की मण्डली भी एक अच्छे 'प्रवचन क्लब' की आवश्यकता पूरी कर सकती है, उसकी बैठक कभी भी, कहीं भी हो सकती है। इससे किसी भाषण कला विद्यालय में प्रवेश पाकर अच्छा पाठ्यक्रम पूरा करने की तरह ही लाभान्वित हुआ जा सकता है। भाषण क्लब बनाकर छात्र-छात्राएँ ही नहीं, सामाजिक कार्यकर्ता भी अपनी यह प्रवीणता सहज ही बढ़ा सकते हैं।

गपशप और वार्तालाप में मौलिक अन्तर यह रहता है कि गपशप में कोई विषय नहीं रहता, न कोई उद्देश्य होता है। कहने के लिए कहा जाता है, जिसके मन में भड़ास उठती है, वह बोलता जाता है। दूसरे भी पीछे नहीं रहते। वे भी अपना चेहरा चमकाने, दूसरों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करने, इसी प्रसंग में तीसमारखाँ बनने की चेष्टाएँ करते हैं और समय काटने का, कभी समर्थन कभी विरोध का सिलसिला चल पड़ता है। वार्तालाप का स्तर भिन्न है,



उसमें उद्देश्यपूर्ण विचार विनिमय होता है और साथ ही कुछ निष्कर्ष निकालने, निष्कर्ष को अनेकों तक फैलाने तथा तदनुरूप कुछ कदम उठाने, कार्य करने की योजना भी रहती है। यह मित्र-मित्रों के बीच भी हो सकता है। इसमें सभी पक्ष अपना अभिमत व्यक्त करते हैं और फिर किसी समस्या को सुलझाने के लिए किसी निर्णय पर पहुँचते हैं। संसदे इसी स्तर का विचार विनिमय करती हैं। इसी को छोटे रूप में सामयिक वार्तालापों के माध्यम से मित्र मंडली या परिजनों के बीच भी किया जा सकता है। इसके अन्यान्य लाभों में एक बड़ा लाभ यह है कि अभिव्यक्ति के प्रकटीकरण का अभ्यास बनता है। यही आगे चलकर विकसित वक्तृत्व कला का आधार भी बन सकता है।



## प्रगति इस प्रकार संभव होगी

भाषण का प्राथमिक अभ्यास करने वालों को कई कठिनाइयों का एक साथ सामना करना पड़ता है। इनमें से एक है-आत्मविश्वास का अभाव। दूसरा-अधिक लोगों को एक साथ सामने उपस्थित देखकर उन्हें परीक्षक मान बैठना और उनकी दृष्टि अपने चेहरे पर लगी देखकर हड़बड़ा जाना। इन दो कारणों से वक्ता मनोवैज्ञानिक क्षेत्र की चपेट में आ जाता है और विषय की जानकारी एवं योग्यता होते हुए भी मानसिक संतुलन बिगड़ जाने के कारण जो कहना चाहिए था, जो कहा जा सकता था, उसे कह नहीं पाता।

कठिनाई का यह प्रथम दौर है, जिसे आत्म-विश्वास जागृत करके ही सुधारा जा सकता है। अपने ऊपर विश्वास किया जाये। सोचा जाये कि जब सड़क पर बैठने वाले भदारी, रेलों में माल बेचने, नीलाम करने वाले अनपढ़-अशिक्षित वर्ग के लोग धुआँधार बोलते रह सकते हैं और उपस्थित भीड़ से तनिक भी डरते-घबरते नहीं, तो कोई कारण नहीं कि सुरक्षित एवं विचारशील होते हुए भी डरने-घबराने की आवश्यकता पड़े। इस प्रकार के विचार करते रहने और साहस जगाने के लिए आत्म-प्रशिक्षण करते रहने पर यह कठिनाई आसानी से दूर की जा सकती है। एक-दूसरे को प्रोत्साहन भी दे सकते हैं। कुशल वक्ता अपने अनुभव सुनाते हुए विश्वास दिला सकते हैं कि "उन्हें भी आरम्भ में ऐसी कठिनाई का सामना करना पड़ा था, पर अभ्यास से प्रतीत हुआ कि वह मात्र मनोवैज्ञानिक असमंजस था। जब अभ्यास प्रारम्भ किया, तो दिन-दिन यह विश्वास बढ़ता गया कि वक्तृता हर किसी के लिए सरल-सुगम है। उसे अनवरत प्रयत्न करते और भूलों को ढूँढ़ते, पूछते, सुधारते हुए

क्रमशः आगे बढ़ाया जा सकता है; कुशल वक्ता के स्तर तक पहुँचा जा सकता है; भूतकाल के ऐसे अनेकों उदाहरण हैं, जिनमें आरम्भ में बहुत लड़खड़ाने वाले व्यक्ति प्रयत्नरत रहकर कुशल वक्ता बने।''

एकाकी प्रयास फुरसत के समय साधियों के न रहने पर भी किये जा सकते हैं। उस समय न आत्महीनता हैरान करती है और न उपस्थिति को देखकर डरने-घबराने जैसी कोई बात रहती है। इसलिए एकाकी अभ्यास में मुख्य प्रश्न ही रह जाता है कि विचार शृंखला को किस प्रकार सही रखा जाये और जो कहना है, उसे बिना इधर-उधर भटके क्रमबद्ध रूप से किस प्रकार व्यक्त किया जाय? विचारों में क्रमबद्धता का न होना; आदि, मध्य और अन्त का पूर्व निर्धारण न रहना तीसरा व्यवधान है। इसके कारण भाषण अटपटा हो जाता है। जिस पर अधिक प्रकाश डाला जाना चाहिए, उसे संक्षिप्त कर देने के उपरान्त हाथ से तीर निकल जाता है और जो छूट गया था, उसे कहने में पुनरावृत्ति दोष लगता है। निर्धारित समय में अभिव्यक्ति को पूरी तरह कहने के लिए, उसे कितना संक्षिप्त या विस्तृत किया जाना है—यह भाषण के पूर्व ही सोचने और निर्धारण करने का विषय है, अन्यथा या तो नियत समय से पूर्व बात समाप्त करनी पड़ेगी अथवा महत्वपूर्ण बात छूटने पर अधिक समय पाने के लिए अनुरोध करना पड़ेगा। यह दोनों ही परिस्थितियाँ यह प्रकट करती हैं कि भाषण की पूर्व रूपरेखा नहीं बनाई गई और जो मुँह से निकला, वही कहने लगने की अस्त-व्यस्तता अपनाई गई है।

असंतुलित विपन्नता उत्पन्न न होने पाये, इसका एक ही उपाय है कि भाषण की आदि से अन्त तक की रूपरेखा विनिर्मित कर ली जाये और उसका कई बार अभ्यास करने के उपरान्त मंच पर जाया जाये। लेखक यही करते हैं। वे बिना सोचे-समझे कलम चलाना

आरंभ नहीं कर देते, वरन् लिखने से पूर्व उसका ढाँचा तैयार करते हैं, खाका बनाते हैं। इसके बाद रंग भरना प्रारम्भ करते हैं। लेखकों को यह विचार करना पड़ता है कि आरम्भ कैसे करें—मध्य में क्या-क्या तर्क, तथ्य, प्रमाण, उदाहरण प्रस्तुत करते हुए अपने अभिमत की पुष्टि करें। इस ढाँचे में वे गंभीरतापूर्वक सुधार परिवर्तन भी करते हैं। जब पूरी तरह विश्वस्त हो जाते हैं, तब कहीं लेखन कार्य आरम्भ करते हैं। भाषण भी एक प्रकार का लेखन ही है। सुनियोजित, लेख और सुसम्बद्ध प्रवचन की पूर्व तैयारी करना आवश्यक है। बिना पटरी बिछाये रेलगाड़ी चालू कर देने पर तो वह कहाँ-कितनी देर में पहुँचेगी, इसका कुछ भी अनुमान नहीं लगाया जा सकता।

महत्त्वपूर्ण व्यक्ति जब महत्त्वपूर्ण वक्तृताएँ देते हैं, तो उन्हें उसकी तैयारी करनी पड़ती है। अवसर पर बहकने न लगे, इसलिए उसे छपा लेते हैं और यथासमय पढ़कर सुना देते हैं। दीक्षान्त भाषण प्रायः इसी प्रकार छपे हुए होते हैं और संस्कार कराने वाले के द्वारा, वे पढ़कर सुना दिये जाते हैं। वैज्ञानिकों की, मूर्धन्य विचारकों की, राष्ट्रसंघ के सदस्यों की महत्त्वपूर्ण गोष्ठियों में प्रायः हर भाषण छपा होता है, ताकि समारोह समाप्त होने से पहले या बाद में उस आधार पर उपस्थित लोगों को गंभीरतापूर्वक विचार करने का अवसर मिल सके।

यहाँ भाषण कला के विद्यार्थियों को अपने भाषण छपाने और सुनाने के लिए तो नहीं कहा जा रहा है, पर इतना तो करना ही होगा कि उसकी रूपरेखा पहले ही बना ली जाये। स्वयं न बन पड़े, तो जानकारों से सलाह ले ली जाये। तैयारी के बाद उसे कई बार एकान्त में दुहराना चाहिए और सांकेतिक नोट तैयार कर लेने चाहिए। यह संकेत-नोट बड़े अक्षरों में लिख लेने चाहिए। प्रवचन मंच पर

सामने इस प्रकार रख लेने चाहिए कि दर्शकों को यह बात मालूम न पड़े, किन्तु स्वयं बार-बार उस पर दृष्टि डालते और एक के बाद दूसरे संकेत नोट को पूरा करते चलने की सुविधा बनी रहे।

बड़े कॉलेजों और विश्वविद्यालयों के व्याख्याता दूसरे दिन जो पढ़ाना है, उसे पहले दिन ध्यानपूर्वक पढ़ते हैं; नोट तैयार करते हैं। छात्रों के सम्मुख खड़े होकर बोलते हैं, तो 'डाइस' पर वे नोट-कागज रखे रहते हैं। उन संकेतों पर व्याख्या चलती रहती है और अध्यापन कार्य ठीक तरह सम्पन्न हो जाता है। अध्यापक भी संतुष्ट रहते हैं और पढ़ने वाले छात्रों को भी उस तथ्य को पूर्ण क्रमबद्धता से, सही नीति से सीख लेने की प्रसन्नता होती है। यही नीति हर वक्ता को अपनानी चाहिए। उसे अपने नोट तैयार करने चाहिए और बोलते समय उस संकेत-पट्ट को सावधानी से सामने रखना चाहिए।

'रिहर्सल' हर महत्त्वपूर्ण काम का करना चाहिए। विस्मृति भी मनुष्य की स्वाभाविक कमी है। कई दिन बीत जाने पर अभ्यस्त बातें भी दिमाग से उतर जाती हैं। इसलिए उन्हें बार-बार 'फ्रेश' करनी पड़ती हैं। गायक, अभिनेता प्रायः यही करते हैं। सभा मंच पर जो गाया जाना है, उसे गायक एक बार घर पर गाकर, बजाकर अपने आपको आश्वस्त कर लेते हैं।

नाटक-अभिनयों में यही होता है। नट-नर्तक आज के प्रस्तुतीकरण को रात में दिखाने से पूर्व दिन में उसका एक 'रिहर्सल' अवश्य कर लेते हैं। ऐसा न करें तो गायन, वादन, अभिनय में चूक हो सकती है। इतने भर से आयोजन की छवि धूमिल हो सकती है। वैसा होने देने की अपेक्षा यही अच्छा समझा जाता है कि 'रिहर्सल' में व्यर्थ खर्च होता दीखता समय भी आवश्यक समझा जाये और उस क्रिया को भी सम्पन्न किया जाये।

जानकार जानते हैं कि यह बात 'पिसे को पीसने' जैसी लगने पर भी कितनी महत्त्वपूर्ण-कितनी आवश्यक है। जो इसे निरर्थक समझते हैं और अहंकारवश इस संदर्भ में उपेक्षा बरतते हैं, वे घाटे में रहते हैं। ऐसे लोगों की वक्तृता में क्रमबद्धता घटती और अस्तव्यस्तता बढ़ती रहती है, भले ही वे स्वयं उस भूल को समझ, पकड़ न पायें। अच्छे लेखक भी हर लेख को दुबारा लिखते हैं। पहली बार में जो कमी रह गई थी, उसे दूसरे लेखन में सुधारते, निखारते हैं। अच्छे अध्यापक, लब्ध प्रतिष्ठ गायक-अभिनेताओं को भी यही करना पड़ता है। वे न अपनी पूर्णता का अहंकार करते हैं और न ही 'रिहर्सल' में अपमान जैसा कुछ अनुभव करते हैं।

इन दिनों कोई उपदेश नहीं सुनना चाहता है। पुराने जमाने की बात दूसरी थी। उन दिनों व्यासपीठ पर मात्र ऋषि कल्प व्यक्ति ही बैठने का साहस करते थे। उन्हें उपदेश देने का अधिकार भी था। लोग श्रद्धापूर्वक उन आत्मवचनों को सुनते और हृदयंगम भी करते थे, पर अब वैसी बात नहीं रही। मंच पर कोई भी जा बैठता है। गंभीर अनुभव, अध्ययन न होने पर भी चारित्रिक विशिष्टता और विषय की पारंगतता न होने पर भी अपना चेहरा दिखाने, आवाज सुनाने के लिए कुछ भी बकझक आरम्भ कर देता है। इन दिनों अनधिकारी वक्ताओं की भरमार है। उनकी प्रामाणिकता-पारंगतता की कोई कसौटी नहीं रहती है। ऐसी दशा में श्रोताओं से यह आशा नहीं करनी चाहिए कि वे आधुनिक वक्ताओं को व्यासजी या सूत जी मानकर उनके कथन पर विश्वास करते चले जायेंगे।

इस समय परिवर्तन और अप्रामाणिकों की भरमार को देखते हुए उस तथ्य को समझना चाहिए, जिसमें वक्ता का स्थान एक अच्छे वकील जितना रह गया है। उसे जनता को न्यायाधीश मानना

चाहिए और निष्कर्ष निकालने, निर्णय करने का भार उसी के सुपुर्द कर देना चाहिए। वक्ता को अच्छे वकील की भूमिका निभानी चाहिए। प्रतिपाद्य विषय के पक्ष-विपक्ष में जो कुछ कहा जा सकता है, उन सभी तथ्यों को जनता के सामने रखना चाहिए। यह वक्ता की कुशलता है कि विरोधी पक्ष की दलीलों को काटे, निरर्थक सिद्ध करे और अपने विषय के पक्ष में तर्क, तथ्य, प्रमाण और उदाहरणों की भरमार करता चला जाये। इस प्रकार श्रवणकर्त्ताओं को अपनी विवेकबुद्धि के आधार पर किसी निष्कर्ष तक पहुँचने का अवसर मिलेगा और वे निर्णय को किसी के द्वारा थोपा हुआ नहीं, अपने द्वारा किया गया अनुभव करेंगे।

ऐसे ही निर्णयों में गंभीरता होती है और वे सुनने वालों के गले उतर जाते हैं। इसके विपरीत यदि तर्क, तथ्य, प्रमाण आदि का प्रस्तुतीकरण न करते हुए अपनी मान्यता दूसरों पर थोपने की शैली अपनाई गई, तो समझना चाहिए कि वक्ता को समय की पहचान नहीं है। वह सुनने वालों को पाँच शताब्दी पूर्व के श्रद्धालु समुदाय में गिन रहा है और अपने अनुयायी मानकर उपदेश देता चला जा रहा है। अब इस शैली को अपनाने वालों पर धृष्टता करने का आक्षेप लगाया जाता है। जनता ने अपने हाथ में प्रजातंत्र सँभाल लिया है। उसने एक कदम आगे बढ़कर बौद्धिक क्षेत्र में भी निर्णय-निर्धारण को हथिया लिया है। अब वक्ता से इतनी ही अपेक्षा रखी जाती है कि उसे जो कहना है, उसके पक्ष में तथ्य प्रस्तुत करके अपने कर्त्तव्य की इति श्री माने।

कचहरी में वकील यही करते हैं। अदालत को अपने पक्ष में सहमत करने के लिए वे कुशलतापूर्वक तथ्य प्रस्तुत करते चले जाते हैं। वे न्यायाधीश को निर्देश नहीं करते कि अदालत यह फैसला

करे। यदि कोई ऐसा करे, तो उस पर अदालत के विवेक को चुनौती देने के आरोप में न्यायालय की मान-हानि का अपराध ठहराया और दंडित किया जायेगा। समय की माँग है कि जनता के विवेक को मान्यता दी जाये। फैसला उसे स्वयं करने दिया जाये। वक्ता के जिम्मे अब मात्र इतना ही काम रह गया कि उसे जो अभीष्ट है, उसके पक्ष में परिपूर्ण परिश्रम करके तथ्यों को ढूँढ़ निकाले, प्रस्तुत करे और जनसमुदाय को अपने विवेक से किसी निर्णय तक पहुँचने में सहायता भी करे। धर्मगुरु को “बॉस” की भूमिका निभाने जैसी धृष्टता इन दिनों किसी भी वक्ता के लिए शोभनीय नहीं, भले ही वह नेता, विद्वान् या धर्मात्मा ही क्यों न माना जाता हो। बुद्धिवाद के इस युग में सभी को अपनी रीति-नीति बदलनी पड़ रही है। वक्ताओं को भी उस परिवर्तन की आवश्यकता, इच्छा या अनिच्छा से स्वीकार करनी होगी। दुराग्रह बरतने पर वे उपेक्षित-तिरस्कृत होने लगेंगे।

रटे हुए प्रवचनों से भी काम चलता रहता था। रामायण, भागवत या सत्यनारायण कथा को लोग उन्हीं रटे शब्दों में बार-बार सुनते रहते थे। यह कथा श्रवण भी पुण्य माना जाता था। पठन के बारे में भी यही बात थी, धर्मग्रन्थों का लोग बार-बार पारायण करते रहते थे। इसे वे ‘पिसे को पीसना’ जैसा उपाहासास्पद नहीं ठहराते थे और पुण्य फल समझकर उस धर्मकृत्य को बिना ऊबे करते रहते थे; पर अब समय के साथ वह आदत भी बदल गई है। लोग नवीनता चाहते हैं। घिसी-पिटी बातों में ऊब लगती है। भोजन, वस्त्र-सभी कुछ नया बदलता रहना चाहिए। एक बार देखने के बाद उस फिल्म को कदाचित् ही कोई देखता हो। पोशाकों के फैशन रोज बदलते हैं। इस नवीन की पक्षधर अभिरुचि के प्रवाह से हर क्षेत्र प्रभावित हुआ है। मोटर बनाने वाले हर साल नये मॉडल बदलते हैं।



कलेण्डर वाले नये चित्र छापते हैं। उसी तीर्थ में हर बार पर्यटन के लिए कौन जाता है? यही बात श्रोताओं के मन में रहे, तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। वे नवीनता खोजते हैं, तो इसे रोका कैसे जाये? अब दो-चार भाषण सीख लेने और उन्हें ही ग्रामोफोन के रिकॉर्डों की तरह सुनाते रहने से काम चलने वाला नहीं है। दिशाधारा भले ही निर्धारित रहे पर लहरें-तरंगें तो नई-नई ही उठनी चाहिए।

नये ढंग से पुरानी बातों को प्रस्तुत करने की आवश्यकता से इनकार नहीं किया जा सकता। इसके लिए आवश्यक है कि वक्ता को अध्ययनशील एवं बहुश्रुत होना चाहिए। उसे मूर्धन्य वक्ताओं के भाषण इसलिए सुनने चाहिए कि उनकी शैली में जो आकर्षक विशेषता है, उसे देखा-सीखा और अपनाया जा सके। बूँद-बूँद से घड़ा भरने की बात ज्ञान सम्पादन पर भी लागू होती है। उसके लिए नया-नया पढ़ना और नया-नया सुनना चाहिए।

वक्ता को हर विषय में चुंचु प्रवेश की अपेक्षा एक सीमा निर्धारित करनी चाहिए और उसी मर्यादा में अपना अध्ययन संचय, अभ्यास एवं प्रतिपादन केन्द्रित कर लेना चाहिए। ऐसे ही लोग विशेषज्ञ कहलाते और अपने विषय में प्रामाणिक समझे जाते हैं। हर व्यक्ति की क्षमता सीमित है, वह थोड़े ही विषयों में विशेषज्ञ हो सकता है। सभी दिशाओं में पैर फेंकने वाले, हर विषय में अपनी प्रवीणता सिद्ध करने की फिराक में रहने वाले, हर विषय में अधूर-अधकचरे रह जाते हैं। ऐसी दशा में न उनकी प्रामाणिकता, विशेषता उभरती है और न जनता उन्हें सुनने के लिए उत्सुक रहती है। व्यक्तित्व का ऊँचा होना तो विशेष प्रयत्न और परिस्थिति पर निर्भर है; पर इतना तो हर वक्ता कर सकता है कि अपने प्रतिपाद्य विषय में तथ्यों और प्रमाणों का धनी रहे और जो कहता है, उसे इतने वजनदार

आधार पर कहे, जिससे वक्ता के अध्ययनशील होने की सराहना करते ही बन पड़े।

इसके लिए वक्ता को स्वाध्यायशील, बहुश्रुत एवं मनन-चिंतन में निरत विचारक भी होना चाहिए। यदि ऐसा न बन पड़ा, तो फिर थोड़े से प्रसंगों पर गिनी-चुनी बातें ही तोता रटंत की तरह जहाँ-तहाँ दुहराई जाती रहेंगी। नये स्थानों पर नये लोग तो उनसे प्रभावित भी हो सकते हैं, पर जिनने उन्हीं बातों को बार-बार दुहराते सुना है, उन पर यह छाप पड़ेगी कि यहाँ विचारशीलता का, अध्यवसाय का अभाव मात्र उतना ही आता है जितना कि रट लिया गया या रटा दिया गया है। ऐसी दशा में जिन पर आरंभिक छाप पड़ी थी, वह भी उस कूप मण्डूकता का पता चलने पर समाप्त हो जाती है।

दिशाधारा एक रहे तो हर्ज नहीं, पर उसके प्रतिपादन में नये तर्क-तथ्य तो प्रस्तुत किये ही जाने चाहिए। उदाहरणों की कमी नहीं, घटनाएँ, संस्मरण, कथाएँ, सूक्तियाँ एक ही विषय पर असंख्यों मिल सकती हैं। आवश्यकता उन्हें खोजने की है। यह खोजबीन स्वयं ही करनी पड़ती है। संकल्पों, उद्धरणों की कमी नहीं, पर वैसा साहित्य तो स्वयं ही ढूँढ़ना-पढ़ना पड़ेगा। हर बार नया बनाना वहाँ तो हर हालत में अनिवार्य रूप से आवश्यक है, जहाँ नियमित रूप से एक ही जगह परिचित लोगों के बीच अपने विचार व्यक्त करने पड़ते हैं।



## अभ्यास क्रम के लिए सुगम अवलम्बन

तथ्यात्मक, विवेचनात्मक भाषण अध्ययनशील लोग ही दे सकते हैं। उन्हें समझने के लिए ऐसे लोग चाहिए जिनकी निर्धारित विषय में पहले से ही गति रही हो। जिन्हें विज्ञान का ककहरा भी विदित नहीं है, उनके लिए उस विषय के रहस्यों को समझना और लाभान्वित होने का मार्ग सुझाना सर्वथा निरर्थक है। इसी प्रकार जिस भी विषय पर भाषण करना है, उसी स्तर की जनता का एकत्रीकरण संभव हो तो ही बात बनेगी, अन्यथा वक्ता कितना ही विद्वान्, विषय कितना ही गहन क्यों न हो, समझ न पाने के कारण लोग कानाफूँसी आरम्भ करेंगे; इधर-उधर ताकेंगे; सिर खुजाते, कान कुरेदते देखे जायेंगे और बोर होने पर किसी न किसी बहाने बीच में से ही उठकर चल देंगे। वक्ता और श्रोता के बीच की कड़ी तब जुड़ती है, जब जानकारी और अभिरुचि का परस्पर तारतम्य बैठे।

यदि इसमें विसंगति दिखाई पड़े, तो बदलना वक्ता को ही पड़ेगा। श्रोता को तत्काल नये विषय की आरम्भिक जानकारी देना और प्रवचन समझने की स्थिति तक पहुँचा देना कठिन है। ऐसा व्यतिरेक जहाँ भी हो रहा हो, वक्ता को अपना रुख, प्रसंग बदलना होगा। महिलाएँ, बच्चे, वयोवृद्ध अधिक हैं, तो उनके समझ सकने योग्य हलका-फुलका स्तर अपनाना होगा। मंच पर जाते ही या जाने से पूर्व दृष्टि पसारकर यह देखना चाहिए कि उपस्थित समुदाय का ज्ञान एवं रुझान किस स्तर का है। उसके साथ संगति बिठाते हुए ही बात आगे बढ़ानी चाहिए और अपने प्रतिपाद्य विषय में उसी स्थिति के साथ संगति बिठाते हुए आगे बढ़ना चाहिए। बात उतनी ही ऊँची उठानी चाहिए, जितनी कि लोग आसानी से हृदयंगम कर सकें।

यही बात मध्यवर्ती और उच्चस्तरीय ज्ञान वाले लोगों के संबंध में भी है। विद्वानों, विज्ञानों की बहुलता वाले समुदाय में अशिक्षितों-ग्रामीणों जैसे स्तर पर बोलना उपहासास्पद बनना है। मध्य शिक्षित लोग न बहुज्ञ होते हैं, न अल्पज्ञ। उनके लिए भाषण का स्तर कुछ ऊँचा, किन्तु सुबोध होना चाहिए। झिल करने वाले स्लो मार्च, क्विक मार्च और डबल मार्च पर अपनी चाल घटाते-बढ़ाते हैं। वक्ताओं को भी उपस्थित लोगों का स्तर देखकर अपनी शैली में सुधार-परिवर्तन करना चाहिए। हर हालत में उच्चारण मध्यम गति का, मध्यम स्तर का ही होना चाहिए। बोलने का क्रम इतना तेज न हो कि सुनने वालों के कान उसे ठीक तरह पकड़ न सकें और मस्तिष्क में एक बात जमने से पूर्व ही नई बात घुस पड़े।

बहुत तेज गति से बोलने वाले कम समय में बहुत बात तो कह देते हैं, पर यह नहीं सोचते कि सुनने वाले उसे पकड़ भी सकेंगे या नहीं। यही बात उच्चारण को ऊँचा-नीचा करने के सम्बन्ध में भी है। जब लाउड स्पीकरों का आविष्कार नहीं हुआ था, तब नाटक वाले जोर-जोर से एक-एक शब्द कहकर भारी भीड़ के कानों तक अपनी बात समझाने में समर्थ होते थे। राजदरबार में भी उन दिनों जोर-जोर से कहने का प्रचलन था, जिससे कि फैले हुए घेरे में बैठे हुए लोग उस कथन को सुन सकें। इन दिनों लाउड-स्पीकरों का युग है। अब उस प्रकार चिल्लाने की आवश्यकता नहीं रही। मध्यम स्वर में बोलने पर सब लोग आसानी से सुन सकते हैं; किन्तु यह मध्यम स्वर इतना मंद भी नहीं होना चाहिए कि माइक भी अच्छी तरह पकड़ न सके। बीमारों की तरह बहुत मंद स्वर से रुक-रुककर बोलना भी भाषण का दोष है। इस कमी के रहने पर अच्छे वक्ता का अच्छा विषय भी अपनी छवि गँवा बैठता है। भाषण में जहाँ विषय

का निर्वाह और प्रतिपादन सही होना चाहिए, वहाँ उच्चारण भी मध्यवर्ती सरल स्वाभाविक रहना चाहिए, अन्यथा नाटकीय कृत्रिमता अपनाने पर उस अस्वाभाविकता के कारण भाषण का ही नहीं, वक्ता का स्तर भी लड़खड़ा जायेगा।

कई वक्ता अपने विषय का निर्वाह नहीं कर पाते। प्रसंग की मूलधारा से हटकर इधर-उधर भटकते और कहीं से कहीं चले जाते हैं। ऐसे लोगों के संबंध में भी विज्ञजन यही सोचते हैं। जनता के समय का मूल्य समझना चाहिए। दस हजार की उपस्थिति में एक घण्टे का बेतुका भाषण देने वाला, सुनने वालों के दस हजार घण्टे बर्बाद करता है। एक अनपढ़ वक्ता कितना बड़ा नुकसान करता है वह इस समय की कीमत लगाकर अंदाजा लगा सकता है। हजारों-लाखों रुपये की बरबादी से तो यह अच्छा था कि श्रोताओं की चप्पलें चुराकर या पल्ला फैलाकर उतनी राशि माँग ली जाती और वह अपने काम आती।

अनधिकारी, अनभ्यस्त वक्ताओं का आत्मश्लाघा के लिए सभामंच पर चढ़ दौड़ना, माइक को हथिया लेना—एक प्रकार का दुर्भाग्य ही है, जिसका त्रास उपस्थित लोगों को सहना पड़ता है। वह बन्दर तो उछल-मटककर घर चला जाता है, पर उपस्थित लोग संयोजकों को कोसते रहते हैं कि यदि अनपढ़ लोग ही भाषण करने के लिए थे, तो उन्हें समय बर्बाद करने के लिए क्यों बुलाया गया। ऐसी दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति उत्पन्न करने से पूर्व यही अच्छा है कि वक्तृत्व-कला में प्रवीणता-परिपक्वता आने तक निजी क्षेत्र में अभ्यास जारी रखा जाये और मंच पर तभी प्रकट हुआ जाये जब ठोंक-बजाकर वैसी पात्रता का परिपूर्ण विश्वास कर लिया जाये।

भारतीय जनता की मानसिक पृष्ठभूमि आमतौर से धार्मिकता के

साथ जुड़ी हुई है। यह परम्परा प्रवाह उत्तराधिकार में आज के जन-समुदाय को भी उपलब्ध है। इतिहास, भूगोल आदि से अपरिचित-अशिक्षित भी रामायण, महाभारत की कथा-कहानियों से परिचित हैं। परमार्थ, परलोक आदि की धर्म संबंधी जानकारीयाँ उन्हें उपलब्ध वातावरण से अनायास ही मिलती रही हैं। प्रस्तुत परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए हमारे प्रवचन यदि सामान्य जनता के लिए हैं, तो उन्हें धर्म-धारणा का पुट देकर ही अग्रगामी बनाया जाना चाहिए। इस संबंध में स्वर्गीय तिलक, गाँधी, मालवीय आदि राजनैतिक नेताओं की प्रतिष्ठा और प्रभाव क्षमता का मूल्यांकन किया जा सकता है। वह तत्कालीन अन्य नेताओं की तुलना में बढ़ी-चढ़ी थी। कारण कि उनके व्यक्तित्व एवं प्रतिपादन में धार्मिकता का पुट रहता था। जिनका विषय विशुद्ध राजनीति था, वे उसी वर्ग के लोगों को प्रभावित कर सके। सामान्य जनता तो उसके तप-त्याग से ही प्रभावित थी। विचारों की दृष्टि से उनका प्रभाव उतना नहीं था जितना कि धर्म को प्रधानता देने वाले लोगों का। यह स्थिति अभी भी समाप्त नहीं हुई है। भारत में ७० प्रतिशत अशिक्षित हैं और प्रायः यही अनुपात पिछड़े देहातों में रहने वालों का है। उनकी मनोदशा को देखते हुए यही उपयुक्त है कि विचार क्रान्ति अभियान को, सत्प्रवृत्ति संवर्धन की युगान्तरीय चेतना को धर्म-धारणा के साथ संगति बिठाते हुए अग्रगामी बनाया जाये।

लोकशिक्षण के सिद्धान्त चिरघोषित हैं। व्यक्ति निर्माण, परिवार निर्माण, समाज निर्माण हमारा लक्ष्य है। नैतिक, बौद्धिक और सामाजिक क्रान्ति की लाल मशाल का आलोक जन-जन के मन तक पहुँचाना है। लोकमानस के परिष्कार में श्रद्धा, प्रज्ञा और निष्ठा का उपयोग करना है। इसके लिए प्रचारात्मक, रचनात्मक और

सुधारात्मक कार्यक्रम बनाने और चलाने हैं। मिशन की समूची कार्य पद्धति इसी धुरी पर घूमती है। इन्हीं पुण्य-प्रयोजनों के लिए प्रज्ञा संस्थानों का निर्माण हुआ और प्रज्ञा पुराण रचा गया है। मिशन का संक्षिप्त, किन्तु समग्र स्वरूप यही है।

इन प्रयासों को जन-जन के गले उतारने के लिए प्रवचनों, परामर्शों की आवश्यकता अनिवार्य रूप से पड़ेगी। इसके लिए हर युग शिल्पी को तैयार किया जा रहा है। इसके लिए परिस्थितियों के अनुरूप शैली कथानकों की ही हो सकती है। बच्चों से लेकर बूढ़ों तक, अशिक्षितों से लेकर शिक्षितों तक सभी को कथानक रुचिकर होते हैं। पुस्तक विक्रेता की दुकानों पर सत्तर प्रतिशत साहित्य कथा-कहानियों का बिकता है। मासिक पत्रिकाओं में भी उन्हीं की भरमार रहती है। बच्चों की पुस्तकों में अधिकांश कहानियाँ ही होती हैं। बड़ों के लिए भी समय काटने की आवश्यकता वे ही पूरी करती हैं। फिल्में-दृश्य कहानियाँ ही तो हैं। बच्चे नानी से कहानी सुनने के लिए चिपके रहते हैं। धर्मक्षेत्र में पुराणों का कथा-श्रवण अत्यधिक लोकप्रिय हुआ है। अठारह पुराणों से काम नहीं चला, तो अठारह उपपुराण लिखे गये। चारों वेदों को मिलाकर मात्र बीस हजार मंत्र हैं। वेद चार से पाँच नहीं बने, पर पुराणों का विस्तार तो बढ़ता ही जा रहा है। रैदास पुराण से लेकर प्रज्ञा पुराण जैसी रचनाएँ तो पिछले ही दिनों हुई हैं। यह कथा शैली की लोकप्रियता का प्रमाण है। दर्शन और विवेचन विज्ञ समाज में मान पाता है, पर भारत का अधिकांश जन-समाज जिस स्तर का है, उसे देखते हुए निर्विवाद रूप से यह कहा जा सकता है कि उसे युग चेतना समझाने में कथा-साहित्य का उपयोग ही सफल रहेगा। उनमें विवेचनात्मक प्रवचनों की पहुँच कानों तक ही हो सकेगी। उस गरिष्ठ भोजन को निगलना-पचाना कठिन ही पड़ेगा।

कथा शैली के प्रवचन सुनने में रोचक ही नहीं, हृदयग्राही भी होते हैं; क्योंकि घटनाक्रमों, संवादों में विभिन्न स्तर के व्यक्तियों की भाव-संवेदनाएँ उभारना, उनकी मनःस्थिति एवं परिस्थिति का विश्लेषण करना सुगम पड़ता है। इससे यहाँ 'कथन' 'अनेक' स्तर के व्यक्तियों की मनोदशा, आकांक्षा, समस्या, दिशाधारा, प्रतिक्रिया समझने-समझाने से बहुत स्वादिष्ट बन जाता है। षट्स व्यंजन की, छप्पन भोगों की चर्चा ज्योनों के प्रसंग में होती रहती है। रंग-बिरंगे वस्त्र-आभूषणों से सजी हुई गुड़िया कितनी अच्छी लगती है, इन्द्र धनुष की शोभा देखते ही बनती है, परिवार में छोटे-बड़ों के भिन्न-भिन्न स्तर उसे कितना सरस बना देते हैं; ठीक इसी प्रकार वक्ताओं की अपनी विशेषता है, वे अगले घटनाक्रमों के लिए उत्सुकता बनाये रहने के कारण सुनने वाले को एक जंजीर में जकड़े होते हैं और उठने नहीं देते। जबकि विवेचनात्मक भाषण में कदाचित् ही कोई वक्ता सरसता उत्पन्न कर पाते हैं। फलतः दर्शक बोर होने लगते हैं और बार-बार घड़ियाँ देखते हैं कि इस जंजाल की कब समाप्ति हो और कब उठकर चलें। जिन्हें गहन समीक्षाओं और सारगर्भित प्रतिपादनों में रुचि होती हो, रस आता हो, ऐसे लोग कम ही पाये जाते हैं; जो होते हैं, वे मात्र मूर्धन्य विद्वान्-वक्ताओं की सभाओं में ही सम्मिलित होते हैं।

कथा-शैली के प्रवचनों में घटना और विवेचना दोनों का समन्वय रहने से वे तर्क और प्रमाण-दोनों की जोड़ी बनाते रहते हैं। ईंट-चूने की तरह उनकी जुड़ाई मजबूत होती है और वह जनता को सरसता और प्रेरणा का खट्टा-मिट्ठा लाभ देती है। यही कारण है कि इस शैली को अपनाने वाले अपेक्षाकृत अधिक सफल रहते हैं। इन दिनों पाश्चात्य लेखन शैली में उन्हीं



तथ्यों का समावेश हुआ है। लेखों में घटनाओं की भरमार रहती है, इससे पाठक उपन्यास का आनन्द लेते हैं और लेखक के मन्तव्य को अधिक अच्छी तरह समझते-अपनाते देखे गये हैं। हमारे प्रवचनों का भी यही स्वरूप होना चाहिए, विशेषतया तब, जबकि उन्हें अपने देशवासियों की पिछड़ी मनोभूमि को देखते हुए गंभीर विवेचनाओं से बचते हुए हलकी-फुलकी बौद्धिक खुराक ही देनी हो। जो हजम हो सकें। जितना हजम हो सके, उतना खिलाना ही बुद्धिमत्ता है।

इस शैली में एक अच्छाई और भी है कि वह वक्ता के लिए अभ्यास में अति सरल पड़ती है। दार्शनिक प्रतिपादनों में से कुछ ही बिन्दु समय पर याद रह पाते हैं और वे चूक जाते हैं। तब बंगलें झाँकनी पड़ती हैं या तो निरर्थक बातों में समय पूरा करना पड़ता है। यह कठिनाई उनके सामने नहीं आती, जो कथा शैली अपनाकर उदाहरणों, कहानियों, घटनाओं, संस्मरणों का पुट लगाते हुए अपनी बात आगे बढ़ाते हैं। घटनाओं की कमी नहीं; कथाएँ अगणित विद्यमान हैं। उन्हें ढूँढ़ना, अपने विषय के साथ गूँथ लेना- इतना भर कुशल वक्ता का काम है। जिसने यह विद्या जानी और अपनायी, समझना चाहिए कि एक ही स्थान पर जाने-पहचाने लोगों के बीच चिरकाल तक लगातार नित नये भाषण देते रहने का रहस्य हाथ लग गया। उनका कुबेर भण्डार कभी समाप्त ही नहीं हो सकता। वे अल्पज्ञ होने पर भी अपने प्रिय विषय पर बहुत दिनों तक, बहुत समय तक अपना प्रतिपादन जारी रखे रह सकते हैं। इसके विपरीत विवेचनात्मक पद्धति अपनाने वालों की जेब जल्दी ही खाली हो जाती है और उन्हें दिवालियों की तरह अपना बिस्तर गोल करना पड़ता है।

वक्ता की आत्महीनता के उपरान्त दूसरी यह प्रमुख कठिनाई रहती है कि भाषण के समय विचारों का तारतम्य बना रख सकना कठिन हो जाता है। दर्शकों की मुखाकृतियाँ, हलचलें उसका ध्यान बँटाती हैं और वक्तृता की शृंखला की कड़ियाँ क्रमबद्ध रहने के स्थान पर बिखरने लगती हैं, प्रवाह टूटता है और डूबने-उछलने जैसी विडम्बना बन जाती है। यह कठिनाई कथा शैली में नहीं रहती। कहानी का घटनाक्रम अनायास ही आगे बढ़ता है, फिसलता और सरपट दौड़ता चला जाता है। इस सुविधा से नये वक्ता का अभ्यास सरलतापूर्वक चलता है और उसका मनोबल बढ़ता है। अभ्यास में उत्साह बना रहे, तो फिर कुछ ही दिनों में प्रवीणता भी हस्तगत हो जाती है। हर क्षेत्र में यही बात लागू होती है। फिर भाषण कला ही कोई अजनबी या अनहोनी बात नहीं है, जिसमें उत्साह भरे अभ्यास को असफल रहना पड़ेगा। साहस सदा जीता है। परिश्रम कभी निष्फल नहीं गया। संकल्प से पर्वत भी राई बनते हैं। फिर कोई कारण नहीं कि प्रवचन कला में प्रवीणता उपलब्ध न की जा सके। हिम्मत टूटने न पाये, कठिनाई मार्ग रोकने न पाये, इसलिए वक्तृता के आरम्भिक अभ्यासी के लिए यही सरल-सुबोध पड़ेगा कि वह अपने प्रशिक्षण पाठ्यक्रम में कथा शैली का आश्रय ले और पूर्णता-प्रवीणता प्राप्त करने की दिशा में क्रमिक गति से आगे बढ़े।

कथा शैली के आधार पर युगान्तरीय चेतना को जनमानस में उतारने के लिए अभिनव पाठ्यक्रम 'प्रज्ञा पुराण' का आरम्भ हुआ है। उसके संस्कृत श्लोकों में प्रतिपादित विषय में तत्त्वदर्शन, नीति शास्त्र, आत्म विज्ञान, समाज शास्त्र का उच्चस्तरीय समन्वय हुआ है। उसे युग स्मृति या प्रज्ञा उपनिषद् कह सकते हैं। युगसंधि की वेला में उसे समाज को अर्जुन जैसा उद्बोधन देने वाला प्रस्तुतीकरण कहा

जा सकता है। इतनी गंभीरता के साथ-साथ उसमें अत्यन्त सरलता और हर प्रतिपादन के साथ अनेकों कथाओं का समावेश भी हुआ है। उनका वर्णन करते हुए मूल प्रतिपादन को समझना-समझाना इतना सरल पड़ता है कि पिछड़ी मनोभूमि में उच्चस्तरीय सिद्धान्तों का प्रवेश, बीजारोपण एवं अभिवर्धन, परिपोषण नितान्त सरल पड़ता है।

समय की माँग के अनुरूप कथा प्रसंग ढूँढ़ना हर किसी के लिए सरल नहीं। प्रचलित कथाएँ थोड़ी-सी हैं और उनसे भी अभीष्ट उद्देश्य की पूर्ति नहीं होती। कुछ तो उनमें से रोचक होते हुए नितान्त प्रतिगामी होती हैं और धर्म कथा सुन लेने पर भी जनता को अनुपयुक्त निष्कर्ष अपनाने के लिए बाधित होना पड़ता है। अधिकतर निरुद्देश्य ही नहीं, प्रतिगामी कथाएँ ही प्रचलित हैं। उन्हें कहते रहने पर जनमानस में प्रगतिशीलता के स्थान पर प्रतिगामिता का ही बीजारोपण होता है। अवास्तविक भटकावों में जन समाज को उलझा देना किसी दूरदर्शी वक्ता के लिए अशोभनीय है। ऐसी दशा में पिछले दिनों यह कठिनाई रही कि प्रगतिशील कथा प्रसंग कहाँ से ढूँढ़ा जाये। ऐतिहासिक घटनाक्रम तो अनेकों मिल जाते हैं, पर उनसे धर्म-श्रद्धा क्षेत्र तक युग चेतना को पहुँचाने की आवश्यकता पूर्ण नहीं होती। इतिहास में मनुष्य बोलता है, जबकि पुराण के प्रतिपादन में ऋषियों, देवताओं, महामानवों के चरित्र महत्त्व भी जुड़ जाने से पुरातन के साथ जुड़ी हुई सहज श्रद्धा का भी पुट लग जाता है और प्रतिपादन अपेक्षाकृत अधिक वजनदार हो जाता है। इतिहास का अपना महत्त्व है, पर उसे धर्मक्षेत्र के कथा मंच के साथ संगति बिठाना और परम्परागत स्वाभाविकता के प्रवाह क्रम को बनाये रहना कठिन पड़ता है। सरलता इसी में हो सकती है कि सामयिक

आवश्यकता पूरी कर सकने योग्य पौराणिक धर्म कथाओं का चयन किया जाये और उन्हें अवांछनीयता उन्मूलन-सत्प्रवृत्ति संवर्धन के युग धर्म का निर्वाह करने के लिए प्रयुक्त किया जाये। प्रज्ञापुराण की संरचना में इसका निर्वाह भली प्रकार हुआ है। इसे नीति दर्शन, भविष्य निर्धारण अतीत स्मरण के साथ-साथ सामयिक लोकशिक्षण के लिए बिना किसी कठिनाई के प्रयुक्त किया जा सकता है। कहना न होगा कि इस संरचना ने न केवल विचार क्रान्ति अभियान का द्वार खोला है, वरन् पुरातन के प्रति नवीन की बढ़ती अश्रद्धा को श्रद्धा में परिणत करने की दृष्टि से एक बड़ा कदम उठाया है। लोकशिक्षण के लिए विचार गोष्ठियों की अनिवार्य आवश्यकता पड़ेगी। वर्तमान जनमानस के लिए सुबोध और अभ्यासी वक्ता तथा उसे सरल अवलम्बन चाहिए। इन दोनों ही उद्देश्यों की पूर्ति भी प्रज्ञा पुराणों से संभव हो जाती है।

प्रज्ञा पुराण के माध्यम से वक्तृत्व कला का अभ्यास करने के लिए कहा जा रहा है। नये अभ्यासियों के लिए यह अति सरल पड़ेगा। शैली की पूर्ण जानकारी न हो, तो शान्तिकुञ्ज, हरिद्वार में चलने वाले एक-एक महीने के लिए हर मास लगने वाले किसी युग शिल्पी सत्र में सम्मिलित होकर, उसके उतार-चढ़ावों को भली प्रकार जाना जा सकता है और फिर घर आकर उस अभ्यास को जारी रखा जा सकता है।

प्रज्ञा पुराण का ही दूसरा एक छोटा स्वरूप है-स्लाइड प्रोजेक्टर। यह प्रकाशचित्र यंत्र नव निर्माण के संदर्भ में सभी आवश्यक प्रसंगों पर घटनाओं और व्यक्तियों के उदाहरण प्रस्तुत करता है। एक चित्र प्रायः दो मिनट दिखाया जाता है। इतनी ही देर में उस प्रसंग की व्याख्या पूर्ण करनी होती है। उसके साथ मिलने वाली 'व्याख्या

पुस्तक' में हर चित्र की व्याख्या विवेचना छपी है। उसे कई बार पढ़ लेने पर विषय सहज ही मस्तिष्क में घूम जाता है। जनता को सिखाने से पूर्व एक सप्ताह उसका अभ्यास कर लिया जाये, तो हर चित्र की व्याख्या मस्तिष्क में भली प्रकार जम जाती है और फिर उसके प्रकटीकरण में किसी के लिए कोई कठिनाई नहीं रह जाती। छोटी बात को बड़ी करना कठिन पड़ता है, बड़ी बात को छोटी करना बहुत सरल है। फैलाना कठिन है, सिकोड़ना सुगम। चित्रों के साथ जुड़े हुए घटना क्रम तो विस्तृत हैं। उन्हें नमक-मिर्च मिलाकर घण्टों कहा जा सकता है; किन्तु उसे सिकोड़कर दो मिनट में ही समाप्त करना हो, तो दोस प्वाइन्ट ही इतने मिल सकते हैं कि उतना समय चुटकी बजाते बात की बात में पूरा होता है। विवेचन-व्याख्या में तनिक भी कठिनाई नहीं होती और नौसिखियों में प्रायः एक सप्ताह के अभ्यास से स्लाइड प्रोजेक्टर के आधार पर ३६ स्लाइडें दिखाने में लगने वाला डेढ़ घण्टे का प्रवचन इस प्रकार सुना देते हैं, मानो वह पहले ही उनके अभ्यास में उतरा हुआ हो-रटा हुआ हो। इतने थोड़े प्रयास से ऐसी धारावाही वक्तृता देने वाला स्वयं भी अपनी सफलता पर आश्चर्यचकित रह जाता है; सुनने वाले भी दाँतों तले अँगुली दबाते हैं कि यह अपना ही जाना-पहचाना आदमी, जो संकोच से मुँह छिपाये-छिपाये फिरत था, आज किसी जादुई उपलब्धि के कारण इतना कुशल वक्ता बन गया। प्रज्ञा पुराण की तरह स्लाइड प्रोजेक्टर का अवलम्बन भी वक्तृत्व कला के अभ्यासियों के लिए एक कारगर अवलम्बन है।



## श्रोताओं को नियमित रूप से उपलब्ध करने की सरल प्रक्रिया

वक्तृता का अभ्यास नितान्त आरंभिक स्थिति में ही एकाकी हो सकता है। कुछ समय आगे बढ़ने पर उसके लिए श्रोता तलाश करने पड़ते हैं। दुकान बिना ग्राहकों के कैसे चले? विद्यार्थी न हों, तो पाठशाला क्या? कर्मचारी न हों, तो कारखाने का क्या उपयोग? मरीज न हों, तो अस्पताल में हलचल कैसे चले? यही बात वक्ता के सम्बन्ध में भी है। उसकी गाड़ी तभी चलेगी, जब श्रोताओं की उपस्थिति रहने लगे।

इन दिनों यह कार्य सरल नहीं रहा। कठिन हो गया है। हर व्यक्ति अपनी ही समस्याओं में उलझा हुआ है। व्यस्तता उस पर भूत की तरह सवार है। थका-माँदा और कल की चिन्ताओं में डूबा हुआ मनुष्य प्रवचन सुनने के लिए सहज ही तैयार नहीं होता। उसके लिए उत्साह तभी उत्पन्न होता है, जब कोई असाधारण बात हो। कोई विशिष्ट व्यक्ति, मनीषी या विद्वान् पधारे, उन्हें देखने और सुनने के लिए उत्साह भरने वाली कोई विशेष प्रेरणा जुड़ी हुई हो। अन्यथा लोग अनधिकारी, अनगढ़ वक्ताओं की बाढ़ से ऊबने लगते हैं। इश्टिहार छापने, मुनादी कराने पर भी पंडाल खाली पड़े रहते हैं। अब वह समय चला गया जब व्यासपीठ पर कोई मूर्धन्य व्यक्ति ही बैठते या बैठने दिये जाते थे। अब राज्य संचालन के लिए किसी को हर कसौटी पर खरा सिद्ध नहीं होना पड़ता। चुनाव के हथकंडे जानने वाला कोई भी अनगढ़ व्यक्ति राज्य संचालन का दावेदार बन सकता है। यही बात वक्ताओं के संबंध में भी कही जा सकती है। उनमें से तथ्यानुयायी गिने चुने होते हैं। शेष तो आत्मश्लाघा के लिए जहाँ भी मंच देखते हैं, वहीं किसी न किसी प्रकार जा सवार होते हैं।

माइक एक बार हाथ लग जाये, तो मनोवांछा की पूर्ति हुई मानते हैं और फिर उसे छोड़ने का नाम नहीं लेते। ऐसे उद्धत बकवासी भर जाने से श्रोताओं को उस ठलुआपंथी में समय खराब करने में क्रमशः अरुचि ही बढ़ती जाती है। न वक्ता का स्तर, न वक्तृता का; फिर कोई क्यों अपने आराम में खलल डाले, क्यों अपने जरूरी काम छोड़े ?

इन दिनों वक्ताओं की कमी नहीं, पर श्रोता जुटाने में संयोजकों का पसीना छूटता है। प्रचार के साधन अब भोथर होते जाते हैं। अखबार में सूचना छापना, पर्चे बाँटना, पोस्टर चिपकाना, लाउडस्पीकर घुमाना, रास्तों के ऊपर कपड़े के बैनर टाँगना अब पुराने जमाने की घिसी-पिटी परम्परा बन गई है। उतने भर से जनता को उपस्थित होने के लिए उत्साहित नहीं किया जा सकता। अब व्यक्तिगत निमंत्रण देने के लिए टोलियाँ बनाकर निकलना, रुचि रखने वालों को तलाशना और उपस्थित होने के लिए उनसे आग्रह करना पड़ता है। संकोचवश दिये गये वचन का पालन करने के लिए कुछ लोग किसी प्रकार जा पहुँचते हैं। इन दिनों सभा-सम्मेलनों में यही उत्साह रहित विडंबना चल रही है। जहाँ अधिक जनता उपस्थित होती है, वहाँ कुछ बड़े कारण होते हैं। बड़ों का आगमन, बड़े निर्धारण, अभिनव आकर्षण सज-धज, प्रचार की धूम, कौतुक-कौतुहल जैसी अनेक बातें मिल जाने पर ही अधिक उपस्थिति होती और सभा सफल समझी जाती है। ऐसा कुछ न हो तो रैली, जुलूस निकालने के लिए किराये के आदमी जुटाने पड़ते हैं। सभी संयोजन के अभ्यस्त जानते हैं कि अब उपस्थिति जुटाना कितना कठिन होता जा रहा है। समझा जाता है कि इस एकत्रीकरण के लिए माहौल बनाने में न्यूनतम पाँच रुपया प्रति आदमी औसत खर्च आता है।

भालू का नाच या नाटक-तमाशा करने, नाच-रंग देखने वाली अनगढ़ भीड़ किसी उत्तेजक आकर्षण के सहारे जुटा लेना एक बात है, पर युग सृजन जैसे जन साधारण की उपेक्षा-अरुचि वाले प्रसंग के लिए विचारशील लोगों को इकट्ठे कर लेना कठिन है। इस कठिनाई के रहते अभ्यासी वक्ताओं को वे श्रोता कैसे मिलें? कहाँ मिलें? जिनके सामने वह अपना प्रयोग आरम्भ करें और प्रवीणता के स्तर तक पहुँचने तक उन्हें बिठाये रखें।

समस्या जटिल है। अभ्यास में आत्महीनता और विचार विशृंखलता की नहीं, आगे चलकर यह कठिनाई भी सामने आती है कि श्रोता कैसे जुटें? और वे बिना ऊँचे अधिक दिनों तक अभ्यासी के लिए अपना समयदान उदारतापूर्वक देते रहें। आये दिन सम्मेलन कौन करे? फिर उनमें अभ्यासी को प्रमुखता कौन दे? ऐसी दशा में एक बड़ा अवरोध आ खड़ा होता है और गाड़ी रुक जाती है।

अड़चन का समाधान एक ही है कि कार्य अपने घर-परिवार से आरम्भ किया जाये, यह सरल है। बच्चों को कहानियाँ सुनने की सहज रुचि होती है। उनके लिए यह एक अच्छा खासा मनोरंजन है। दादी के, बाबा के पीछे वे पड़े ही रहते हैं और उन्हें फालतू समय का उपयोग कहानी सुनाने के लिए करते रहने को विवश करते हैं। घर में कोई दूसरा भी इस आवश्यकता को पूरा करने लगे, तो वे उससे भी चिपट जाते हैं। दीदी, बुआ, भाभी, चाची आदि को ऐसा कुछ आता हो, तो वे उसके पीछे-पीछे भी लगे फिरते हैं और समय कुसमय सुनने-सुनाने की अपनी फरमाइश पेश करते हैं। वक्तृत्व कला का अभ्यासी उस बाल मंडली को आसानी से बुलाने-सिमेटने में सफल रह सकता है।



घरों में कहानियाँ कहने की परम्परा अनेक दृष्टि से अति महत्त्वपूर्ण है। इस माध्यम से बालकों का मनोरंजन ही नहीं होता, उनका ज्ञानवर्धन और चरित्र निर्माण भी इस आधार पर होता है। बचपन ही व्यक्तित्व निर्माण का असली समय है। कठिनाई यह है कि छोटी आयु में नीति सिद्धान्तों को ठीक तरह समझ सकने के लिए बौद्धिक विकास आवश्यक है। वह होता नहीं, प्रशिक्षण चाहिए ही। इसका सामंजस्य कथा-कहानियों से ही बैठता है। इसलिए न केवल बाल निर्माण के लिए, वरन् समूचे परिवार के लिए कथा-कहानियों का प्रवचन आवश्यक है। उसे परिवार के भोजन-वस्त्र जैसी अनिवार्य आवश्यकता भी माना जाना चाहिए। गंभीरतापूर्वक उसकी उपयोगिता समझनी चाहिए और तत्परतापूर्वक उसकी पूर्ति होनी चाहिए।

बच्चों को आगे रखकर कहानी कहने-सुनने का प्रसंग चलता है, पर यह भी एक तथ्य है कि उन्हें रसपूर्वक घर के अन्य लोग भी सुनते हैं। भले ही बच्चों की पंक्ति में वे न बैठें, पर कान तो लगाये ही रहते हैं और न्यूनाधिक मात्रा में बच्चों की तरह ही उसमें रस लेते और प्रसन्न होते हैं। परोक्ष शिक्षण के लिए कथा से उपयुक्त और कोई माध्यम नहीं। प्रत्यक्ष शिक्षा से लोगों को अपना अपमान प्रतीत होता है। अहंकार को चोट लगती है और प्रतीत होता है कि हमें गया-गुजरा समझा जा रहा है और निर्देश देकर जलील किया जा रहा है। इस मनोवैज्ञानिक कठिनाई के कारण अनेक बार तो सत्परामर्श देने वाले विरोध मोल ले लेते हैं और सुनने वाला चिढ़कर और अधिक मात्रा में अवांछनीयता के प्रति दुराग्रही हो जाता है। सत्परामर्श देना भी आवश्यक है और उसे तौहीन समझा जाना भी निश्चित। ऐसी दशा में हितोपदेश, पंचतंत्र वाली शैली ही कारगर होती है। विष्णु

शर्मा ने उद्दण्ड राजकुमारों को नीति कथाएँ सुना-सुनाकर ही प्रशिक्षित करने में सफलता पाई थी। यह परोक्ष शिक्षण पद्धति ही इन दिनों अधिक उपयोगी एवं सफल सिद्ध होती पाई गई है। अब फिल्में तथा उपन्यास ही भले-बुरे लोकशिक्षण की प्रमुख भूमिका निभा रहे हैं। उन्हीं के आधार पर लोकमानस बन रहा है। घर-परिवार की सीमा-मर्यादा में ही यदि व्यक्तित्व विकास को आवश्यक समझा जाये, तो इसी परोक्ष शिक्षण प्रक्रिया को काम में लाना चाहिए। इसके लिए कथा उपक्रम को परिवार के दैनिक प्रचलन में सम्मिलित करना चाहिए।

बाल-वृद्ध सभी के लिए समान रूप से उपयोगी एवं आकर्षक पद्धति है परिवार में नियमित धर्मकथा की व्याख्या। इसे एक पुण्य परम्परा के रूप में नियमित रूप से चलना चाहिए। कुछ समय पूर्व घरों में रामायण कथा होती थी। उसे अतिशय पुण्य फलदायक धर्मकृत्य माना जाता था। जिन्हें कोई अनिवार्य काम नहीं होता, वे सभी रुचिपूर्वक उसमें सम्मिलित होते थे। इस कथन-श्रवण में भाव-श्रद्धा भी जुड़ी रहती थी। ऐसी मनोभूमि में जो भी बीजारोपण होता है वह ठीक तरह अंकुरित होता और उगता है। सभी धार्मिक कर्मकाण्डों का ढाँचा इसी मनोविज्ञान सम्मत तथ्य को ध्यान में रखते हुए खड़ा किया गया है। विवाह ऐसे भी बिना किसी रस्म-रिवाज के हो सकते हैं, पर वैसी बाजारू शादी के चिरस्थायी होने में संदेह ही बना रहेगा। धूमधाम के साथ बारात, पंचायत की उपस्थिति में देवताओं की साक्षी और ग्रंथिबंधन, पाणिग्रहण, सप्तपदी आदि कृत्यों के साथ विवाह सम्पन्न होने पर स्वभावतः इस अनुबंध में दृढ़ता आती है। इस क्रियाकृत्य की गहरी छाप पड़ती है और विवाह बन्धन अनेक कठिनाइयों के रहते हुए किसी प्रकार निभ जाता है।

कर्मकाण्डों के अभाव में मात्र वार्ता-विवाह से वह दृढ़ता आ सकेगी, इसमें संदेह है। घरों में रामायण कथा आदि से मजाक की कहानियों की तुलना में कहीं अधिक गहरा प्रभाव पड़ेगा, यह निश्चित है।

रामायण कथा की ही तरह प्रज्ञा पुराण की घर-परिवार में पुण्य-परम्परा बनाई जा सकती है। नीति प्रधान कथाओं की भरमार रहने से उस प्रशिक्षण का न केवल बालकों पर, वरन् समूचे परिवार पर अच्छा प्रभाव पड़ेगा। घर में शालीनता, सुसंस्कारिता का संवर्धन प्रकारान्तर से उस समुदाय के उज्ज्वल भविष्य का निर्धारण है। इसे मात्र मनोरंजन, परम्परा निर्वाह, धर्मकृत्य ही नहीं, वरन् यह भी माना जाना चाहिए कि इस प्रयास में परिवार निर्माण का कर्त्तव्य भी निभ रहा है। भोजन, वस्त्र, शिक्षा, चिकित्सा की तरह यह भी आवश्यक है कि उत्कृष्टता की दिशा में घर के सदस्यों को अग्रसर करने वाला वातावरण भी बने, उन्हें प्रशिक्षण भी मिले। यह सारी प्रक्रिया घर में प्रज्ञा पुराण की कथा-वार्ता का शुभारंभ कर देने से भली प्रकार चल सकती है। धर्मश्रद्धा के साथ उसे नियत समय पर, नियत स्थान पर विधिवत् स्तवन-पूजन, सहगान-कीर्तन के साथ आरम्भ और समाप्त किया जा सके तो बहुत ही अच्छा है, अन्यथा उस ग्रन्थ में दी हुई कथाओं को बालकों को एकत्रित करके कहानियों के रूप में भी नियमित रूप में कहने का उपक्रम आरंभ किया जा सकता है। उपस्थिति पहले पहल बालकों की हो तो हर्ज नहीं, पीछे उसमें दूसरे वयोवृद्ध खाली हाथ सम्मिलित होते चलेंगे। उपयोगिता प्रतीत हुई, तो बड़े और कामकाजी लोग भी नियमित या अनियमित रूप से सम्मिलित होने लगेंगे। इसके लिए परामर्श देना भर पर्याप्त है। आग्रह न करें, दबाव न डालें; इसकी प्रतिक्रिया उलटी हो सकती

है। उचित यही है कि धैर्यपूर्वक प्रतीक्षा की जाये और जो सम्मिलित होते हैं, उनको सराहते हुए औरों से भी इस प्रयास से लाभान्वित होने का अनुरोध किया जाता रहे। जो न आयें, उनसे बुरा मानने तक बात न बढ़ने दी जाये। दबाव की अपेक्षा मीठा अनुरोध सदा प्रभावी सिद्ध होता है; इस तथ्य को नोट किया जा सकता है। परिवार में धर्मकथा के प्रचलन में भी यही नीति अपनाई जाये।

जहाँ ऐसा न बन पड़े वहाँ कहानियाँ, दैनिक पत्रों के समाचार, पुस्तकों के महत्त्वपूर्ण उद्धरण, संस्मरण पढ़कर सुनाने जैसा कुछ स्वाध्याय, सत्संग का सम्मिलित ढाँचा खड़ा किया जा सकता है, परिवार की बौद्धिक, भावनात्मक भूख बुझाने और उन्हें व्यक्तित्व के विकास में प्रोत्साहित करने के लिए भी कुछ न कुछ किया ही जाना चाहिए। इस छोटे किन्तु महत्त्वपूर्ण कार्य में उपरोक्त कथन-श्रवण की पद्धति का शुभारंभ किसी न किसी रूप में आरम्भ किया ही जाना चाहिए।

इस प्रचलन का लाभ वक्तृत्व कला के अभ्यासी को भी कम नहीं मिलता। नित्य कथा कहने का अभ्यास चल पड़े, तो लोगों के बीच किया गया वह प्रयोग-परीक्षण आगे चलकर विशाल जन-समुदाय के सम्मुख सारगर्भित और प्रभावशाली वक्तृता दे सकने में भी आधारशिला का काम दे सकता है। इसमें जनता को इकट्ठा करने का सिर दर्द भी नहीं उठाना पड़ा, नित्य नया जुगाड़ बिठाने की कठिनाई भी नहीं पड़ी, परिवार की संस्कृति शिक्षा भी चली, साथ ही अपने लिए भाषण कला का नियमित रूप से अभ्यास करने का भी सुयोग बन पड़ा, घर के अन्य लोग इस कला के अभ्यासी बनना चाहें, तो कथा कहने का कार्य बारी-बारी से भी मिल-जुलकर करते रह सकते हैं।

परिवार से बाहर कदम बढ़ाना हो, तो प्रज्ञा अभियान के अन्तर्गत जन्म दिवसोत्सव मनाने की पद्धति को अग्रगामी बनाया जा सकता है। बच्चों के नामकरण, अन्नप्राशन, मुण्डन, विद्यारम्भ आदि संस्कार भी ऐसे पारिवारिक आयोजनों की पूर्ति करते हैं, जिससे धार्मिक वातावरण बनाने और परिवार निर्माण के लिए आवश्यक परम्पराएँ आरम्भ करने का उत्साह उभरता है। उन कृत्यों के लिए किसी भी मित्र-परिचित को तनिक-सी चर्चा करने, स्वरूप एवं लाभ बताने भर से सहमत किया जा सकता है। इनमें खर्च कुछ नहीं, दौड़-धूप और झंझट भी नहीं, हर कोई इन आयोजनों को अपने घरों में कराने, तीज-त्यौहारों जैसा उत्साह उत्पन्न करने के लिए सहमत हो सकता है। पूर्ण अभ्यास हो नहीं, चर्चा कोई करे नहीं, सहयोग कोई दे नहीं, तो नितान्त सरल और अतीव उपयोगी प्रक्रिया भी कठिन प्रतीत होगी और उसे कार्यान्वित करने में आलस के कारण भारी झंझट दिखाई देगा। पर यदि कोई साथी-सहायक मिल जाये और झंझट अपने सिर पर उठाकर उमंग भरा आयोजन घर में जमा दे, तो उसके लिए किसी को भी सहमत-तत्पर किया जा सकता है। जन्मदिवसोत्सवों को परिवार निर्माण का आधार माना गया है और प्रज्ञा अभियान की पंचसूत्री योजना में उस प्रचलन पर बहुत जोर दिया गया है। उस प्रयास को अपने सम्पर्क क्षेत्र में प्रचलित करने में भाषण कला के अभ्यासियों को विशेष रूप से प्रयास करने चाहिए। इस आधार पर उन्हें आयोजन सम्मेलन खड़ा करने और वक्ता का प्रवचन मंच हथियाने का सहज ही अवसर मिलता रहेगा, आये दिन नये व्यक्तियों से वास्ता पड़ने और उनके सामने मुँह खोलने, प्रवचन करने का प्रयास करने का अवसर मिलना एक सुयोग ही समझा जाएगा। इस प्रयास से वक्तृत्व कला

का अभ्यास और लोकमंगल का परमार्थ प्रयोजन दोनों ही साथ-साथ सधते हैं। थोड़ी दौड़-धूप भर की बात है; सम्पर्क साधने, चर्चा करने और झंझट उठाने की जिम्मेदारी अपने ऊपर लेने की बात कह देने भर से आये दिन एक नया स्टेज प्रवचन के लिए मिलता रह सकता है।

जन्मदिवसोत्सव से व्यक्ति निर्माण का मार्गदर्शन करने वाले अनेक कथा प्रसंगों को प्रज्ञा पुराण में से छाँटा जा सकता है। इसी प्रकार पर्व-संस्कार मनाने के आयोजनों में उस निर्धारण के साथ जुड़े हुए उद्देश्यों को प्रज्ञा पुराण की कथाओं द्वारा उपस्थित लोगों को भली प्रकार हृदयंगम कराया जा सकता है। इन आयोजनों के अवसर पर प्रवचन की परंपरा है, जिन्हें मात्र विषय से सम्बन्धित दार्शनिक जानकारीयाँ भर हैं, वे हर आयोजन में उसी प्रतिपादन को दुहराते रहते हैं। कोई नई बात न कह पाने पर, पुनरावृत्ति करते रहने पर संकोच का अनुभव भी करते हैं। यह कठिनाई उन्हें नहीं उठानी पड़ती, जो प्रज्ञापुराण में से समग्र प्रगति से सम्बन्धित कथाएँ चुनकर, एक स्थान पर एक-दूसरे स्थान पर दूसरी कथाएँ कहने और निर्धारित विषय की पुष्टि करते रहने में सफल रह सकते हैं।

किसी भी स्टेज पर, किसी भी विषय या प्रसंग पर बोलने के लिए कहा जाये तो अन्य वक्ता तैयारी न होने की कठिनाई देखकर आनाकानी या मना भी कर सकते हैं, पर प्रज्ञापुराण के अभ्यासियों को ऐसी कठिनाई का कहीं भी, कभी सामना न करना पड़ेगा, क्योंकि वे इस ग्रंथ में से सामयिक आवश्यकता की पूर्ति कर सकने वाली कथाएँ ढूँढ़ सकते हैं और उनके साथ नमक-मिर्च मिलाकर एक अच्छा भाषण तत्काल गढ़ सकते हैं। इतनी सरल और सफल प्रक्रिया भाषण कला के अभ्यास में दूसरी हो नहीं सकती।

## वक्ताओं को ही श्रोता भी जुटाने पड़ेंगे

शास्त्रकारों ने वाणी को सरस्वती और वक्ता को मुनि, मनीषी, ऋषि कहा है। दूसरों की विचारणा और भावना उभारने वाले, जीवन प्रवाह को दिशा देने वाले, वातावरण को मोड़ने वाले निश्चित रूप से विशिष्ट शक्ति संपन्न कहे जायेंगे। यह समर्थता वक्ता के निज के लिए अनेकों सफलताएँ उत्पन्न करती है, प्रगति के अनेकों द्वार खोलती है और साधारण को असाधारण स्तर तक उछाल देती है। लोकमंगल की दृष्टि से यह सर्वोच्च स्तर का परमार्थ, सत्परांमर्श एवं प्रेरणा अनुदान के माध्यम से ही बन पड़ता है। इस सामर्थ्य का समग्र विकास करने एवं उसका सदुपयोग करने से असंख्यों महामानव स्वयं कृतकृत्य हुए और दूसरों के लिए दैवी वरदान जैसी सहायता कर सकने वालों में गिने गये। बुद्ध, तिलक, महावीर, गाँधी, विवेकानंद, दयानंद आदि असंख्यों लोकनायकों ने जिस माध्यम से समय की महती सेवा सम्पन्न की, उसमें उनकी वाक् शक्ति का चमत्कार अविस्मरणीय ही माना जाएगा।

वाक् सिद्धि के लिए व्यक्तित्व में भावनात्मक उत्कृष्टता का समावेश करना होता है। साथ ही स्वभाव-व्यवहार में सज्जनोचित शालीनता का गहरा पुट लगाने की आवश्यकता पड़ती है। इसके लिए आत्म संयम और उदार व्यवहार की उभयपक्षीय साधना में चिरकाल तक निरत रहना पड़ता है।

कहा जा चुका है कि वाणी एक शक्ति भी है और एक कला भी। शक्ति तब बनती है, जब उसके साथ वक्ता के चिंतन, चरित्र और व्यवहार की उत्कृष्टता जुड़ गयी हो। कला तब कहलाती है, जब बोलने का लहजा, करीना, तरीका, प्रवाह ठीक तरह चलाने का

अभ्यास कर लिया जाये। शक्ति और कला का समन्वय होने से चमत्कारी परिस्थितियाँ सामने आती हैं। मुखर न हो सकने वाली ऋषि वाणी भी अपंग है और मात्र नाटकीय वाचालता सीखी गई हो, तो उससे मंच के अभिनेताओं द्वारा कौतुक-कौतूहल उत्पन्न हो सकता है।

युग शिल्पियों की वाक् शक्ति को वाक् सिद्धि स्तर तक पहुँचाना चाहिए। इसके लिए वाणी का संयम अपनाना चाहिए। सामान्य बोलचाल में सच्चाई, नम्रता, हितकामना का समावेश करते रहना चाहिए। आत्मश्लाघा, क्रोध, विद्वेष, छल, प्रपंच का समावेश रहने पर वाणी अपनी प्रभाव शक्ति खो बैठती है। इसी प्रकार अभक्ष्य खाने वाली जिह्वा भी दग्ध, अपंग स्तर की बन जाती है और विनोद से बढ़कर और कोई गंभीर प्रभाव किसी पर नहीं पड़ता। सरस्वती की साधना यही है कि वाणी का उच्चस्तरीय उपयोग होता रहे। उसे न कहने योग्य न कहने दिया जाए, न खाने योग्य न खाने दिया जाए। इतना बन पड़े, तो वाणी के शक्ति रूप में प्रकट होने की संभावना बन गई। शब्द को बाण और व्यक्तित्व को धनुष कहा गया है। दोनों के सम्मिलित प्रयास से ही निशाना सधता है। यह तथ्य ध्यान में बना रहे तो क्रमशः जीवनक्रम में अधिकाधिक पवित्रता एवं प्रखरता का समावेश करने वाली आत्मसाधना चलेगी और वक्ता की वाणी मंत्र बोलने लगेगी। मंत्र उच्चस्तरीय विचारणा से प्रेरित संभाषण को कहते हैं। मंत्र की शक्ति सर्वविदित है। मंत्र सिद्धि और वाक् सिद्धि एक ही तथ्य के दो नाम हैं।

युग संधि की वेला में प्रज्ञा परिजनों को प्रस्तुत महाभारत में अपने अस्त्र-शस्त्र सजाने चाहिए। इसमें सत्परामर्श को ब्रह्मास्त्र की तरह प्रयुक्त करने की कुशलता इन्हीं दिनों सीखनी चाहिए। सीखने



के लिए साधन चाहिए और वातावरण भी। पहलवान बनने के लिए व्यायामशाला, विद्वान् बनने के लिए पाठशाला, धनी बनने के लिए उद्योगशाला का आश्रय लिये बिना गति नहीं। तैरना सीखने वालों को तालाब में प्रवेश करना होता है। भोजन पकाने के लिए आवश्यक उपकरणों वाला रसोईघर चाहिए। साधनों के अभाव में गायन, वादन, चित्र, प्रतिमा, शिल्प, चिकित्सा आदि किसी भी योग्यता का प्रमाण परिचय दे सकना संभव नहीं होता। इसलिए वाक् सिद्धि के लिए जहाँ वक्ता को अपने व्यक्तित्व को, विशेषतया वाणी को संयम साधना की कसौटी पर खरा सिद्ध करना होता है, वहीं उसकी कला में सौन्दर्य, माधुर्य भर देने का अभ्यास भी आवश्यक है। हीरा खरादा जाता है, सोना गलाया जाता है, तभी उनकी विशिष्टता निखरती है। आभूषण बनने की स्थिति तक उन्हें अनेक बार-अनेक प्रकार से संस्कारित किया जाता है। वाणी को सुसंस्कारी बनाने का प्रयास भी इसी प्रकार होना चाहिए।

अभ्यास की अपनी आवश्यकता है। कला के रूप में वाणी को परिष्कृत करने के लिए तदनुरूप अवसर चाहिए। इसके लिए श्रोताओं की उपस्थिति एवं मनःस्थिति में उर्वरता होनी चाहिए, अन्यथा बोया गया बीज ऐसे ही सड़ेगा, धुनेगा और चिड़ियों के पेट में चला जायेगा, उसे अंकुरित-पल्लवित होने का अवसर ही न मिलेगा। ऐसे श्रोता भी हमें अपने ही प्रयत्न से जमा करने होंगे। दूसरों द्वारा एकत्रित की गई भीड़ उन्हीं के स्तर तथा रुझान का होगा जैसा कि संयोजकों का है। अपने प्रयोग-अभ्यास के लिए हमें अपने ही स्तर का जन समुदाय एकत्रित करना चाहिए और उस एकत्रीकरण में भी दूसरों का मुँह ताकने की अपेक्षा स्वयं ही पराक्रम-पुरुषार्थ करना चाहिए। दूसरे भीड़ जुटायें, मंच बनायें और उस पर अपने से जा विराजने का

अनुरोध करें; इस आशा में बैठे रहने पर कदाचित् ही वैसा अवसर कभी मिलेगा, क्योंकि आयोजन कभी-कभी ही किन्हीं के प्रयत्न से बहुत समय बाद सम्पन्न होते हैं। उनमें भी यह विश्वास नहीं कि अपने को बोलने का अवसर मिलेगा या नहीं। ऐसी दशा में उचित यही है कि जितनी उत्कंठा अपनी बात लोगों को सुनाने, गले उतारने की है, उतनी चेंष्टा आयोजन के सूत्र संचालन के निमित्त की जाये। युग शिल्पियों को न केवल वक्ता, वरन् समुदाय को एकत्रित कर सकने में समर्थ संयोजक भी होना चाहिए।

प्रज्ञा अभियान के अंतर्गत वर्ष में कई बार कई स्थानीय आयोजन करने के लिए कहा गया है। इन्हें पर्व आयोजन कहा गया है। वसन्त पंचमी, होली, गायत्री जयन्ती, गुरु पूर्णिमा, श्रावणी, दिवाली ऐसे ही पर्व हैं, जिन्हें सामूहिक रूप से मनाया जाना चाहिए। इन आयोजनों के साथ व्यक्ति, परिवार और समाज की उच्चस्तरीय संरचना में भारी योगदान देने वाली प्रेरणाएँ भरी पड़ी हैं। इन्हें बनाया ही इसलिए गया है कि उन्हें सामूहिक रूप से मनाया जाये और उस तथ्य का स्मरण दिलाया जाये, जिसमें शालीनता बनाये रहने और सत्प्रयत्नों के लिए पराक्रम करने की प्रेरणा दी गई है। साथ ही यह भी बताया गया है कि उन्हें कार्यान्वित करने के लिए किस प्रक्रिया को किस प्रकार अपनाया जाये। इस विस्तृत पक्ष को इन दिनों विशेष रूप से उभारा जाना चाहिए। प्रयत्न यह होना चाहिए कि पर्व मनाने की सामूहिक विधि व्यवस्था को नये सिरे से पुण्य परम्परा का एक रूप दिया जाये और उसमें सम्मिलित रहने के लिए सर्वजनीन उत्साह उत्पन्न किया जाए।

युग सृजन के प्रवक्ताओं को वाक् शक्ति का व्यापक उपयोग करने के लिए मात्र कथन की एकांगी कार्य पद्धति अपनाने से काम

नहीं चलेगा, उन्हें दो मोर्चों पर दुधारी तलवार लेकर जूझना पड़ेगा। एक कार्य यह कि वे वाणी के कलाकार बनें और उसे प्रभावी बनाने के लिए अपने चरित्र-चिंतन को उच्च स्तरीय बनायें। दूसरा यह कि श्रवणकर्त्ताओं को जुटायें। उनमें इस प्रकार की अभिरुचि उत्पन्न करें। यह दोनों ही कार्य सम्पन्न कर सकने वाले ही कुशल वक्ता की भूमिका निभा सकेंगे। जो इन दो प्रसंगों के साथ जुड़े हुए दो-दो कार्यक्रमों में से एक को भी महत्त्वहीन समझेंगे, एक की भी उपेक्षा करेंगे, वे वाचाल भले ही कहला सकें, नवयुग के प्रवक्ता नहीं कहे जा सकेंगे। हमें एकांगी प्रयास से संतुष्ट नहीं होना चाहिए, वरन् समग्र प्रयास का संयोजक होना चाहिए।

वाणी में शक्ति उत्पन्न करने के लिए क्या किया जाना चाहिए? उसमें कलाकारिता का समावेश कैसे हो सकता है? इस पर पिछली पंक्तियों में सैद्धान्तिक प्रकाश डाला जा चुका है। उसका व्यवहार तो हर व्यक्ति को अपनी मनःस्थिति और परिस्थिति देखते हुए स्वयं ही निर्धारित करना होगा। किसके चरित्र-चिंतन में क्या कमी है और उसे सुधारने के लिए किन परिस्थितियों में किस प्रकार आगे बढ़ा जा सकता है, इसका निर्धारण अन्य व्यक्ति कदाचित् ही कर सकें। कुछ सहायक वे हो सकते हैं, जो साथ रहते हैं और स्थिति के साथ तालमेल बिठाने वाला परामर्श दे सकते हैं। हर वक्ता को विचारशील होना चाहिए। जनमानस को-लोकप्रवाह को सुधारने की जिम्मेदारी उठाने वालों में इतनी क्षमता भी होनी चाहिए कि अपने व्यक्तित्व और कर्तृत्व को इस ढाँचे में ढालें कि वे सच्चे अर्थों में सरस्वती के उपासक, वाक्शक्ति के धनी और लोकमानस को उलट सकने में समर्थ सिद्ध हो सकें। बड़े वरदान पाने के लिए बड़ा तप करना चाहिए। यह साधना का विषय है, उसमें धैर्य और संकल्प का

समान रूप से प्रयोग करना पड़ेगा और बंदर वृत्ति जैसी चंचलता को एक कोने पर रखकर एकाग्र-एकनिष्ठ बनने के लिए प्रयत्नरत होना पड़ेगा। यह एक पक्ष ऐसा है, जो एकाकी संयोजन और प्रयत्न के आधार पर स्वयं ही सम्पन्न किया जा सकता है, दूसरों के सहयोग की इसमें नगण्य सी आवश्यकता पड़ेगी।

दूसरा प्रयास थोड़ा कठिन है। उसमें दूसरों से संपर्क साधने की, उन्हें सहमत करने, सहयोगी बनाने की आवश्यकता पड़ेगी। श्रोता जुटाना बड़ा काम है। दूसरे क्यों किसी की मर्जी पर चलें? क्यों अपना समय किसी की इच्छापूर्ति के लिए दें? विशेषतया तब, जबकि अपनी योग्यता उतनी नहीं उठ सकी कि श्रोता बहुत कुछ पाने की आशा से एकत्रित हों और बहुत दिनों तक बहुत समय तक उरके लिए आते रहें। अभ्यास में प्रवीणता एक दिन में तो आती नहीं। उसके लिए सहयोगी श्रोता न जुट सकें, तो समझना चाहिए कि गाड़ी का एक पहिया टूट गया। उड़ने के लिए आवश्यक दो पंखों में से एक कट गया। एक हाथ से ताली कैसे बजेगी?

चूहा अपना बिल स्वयं खोदता है, पर साँप बने बिल में घुस पड़ने की घात लगाता है। हमें साँप नहीं, चूहा बनना चाहिए। दूसरों के आयोजित सम्मेलनों की ताक में रहने और जिस-तिस के द्वारा बनाये मंचों पर जा विराजने वाली ललक है तो सरल और सुनहरी, पर उसे व्यावहारिक नहीं मानना चाहिए। जिन्होंने अपने मंच बनाये, सम्मेलन बुलाये हैं, वे उपस्थिति को प्रसन्न करने वाले वक्ता बुलाते हैं। जिनसे पैसा लिया है, जिन्होंने समय दिया है, उनकी मर्जी पूरी न करने पर आगे का रास्ता बंद होता है। इसलिए विभिन्न संयोजक सदा मूर्धन्यों को बुलाते हैं और नौसिखियों का पत्ता काटते हैं। फिर वे यह भी देखते हैं कि वक्ता लोकरुचि के अनुरूप बोलने का अभ्यस्त है या नहीं। अपना मिशन लोकरुचि से विपरीत न सही,

भिन्न तो है ही। ऐसी दशा में लोकरुचि को प्रधानता देने वाले संयोजक उसी प्रकार की व्यवस्था बनाते और वैसे ही वक्ता बुलाते हैं। हमें अपना ही कुआँ खोदना और अपने हाथ से खींचा पानी पीने की तैयारी करनी चाहिए।

जिन दिनों चाय का प्रचलन नहीं था, उन दिनों उसके प्रचारक घर-घर जाते थे। हाथों में गरम चाय की बंद बाल्टी और गिलास-कुल्हड़ होते थे। सबेरा होते-होते घरों पर पहुँचते, दरवाजे खटखटाते आवाज लगाते थे-गरम चाय पीने की। 'चाय पियो-बहुत दिन जियो' का नारा लगाते थे और जो थोड़ी भी रुचि लेता था, उसे मुफ्त चाय पिलाते थे। जो अच्छी लगने की बात कहता, उससे एक पैसे वाला चाय का पैकेट खरीदने का अनुरोध करते। बनाने की विधि सिखाते और कहते कि इस एक पैकेट में चार कप उम्दा चाय घर पर बन सकती है। उसे पीने से क्या-क्या लाभ होते हैं? यह बताने का वे तब तक क्रम जारी रखते थे, जब तक सहमति सूचक सिर न हिलने लगता। इन चाय प्रचारकों के स्टॉल हाट-बाजारों में पहुँचते और उधर घूमने-फिरने वाली भीड़ को आकर्षित करके वही उपक्रम चलाते, जो आये दिन घर-घर जाकर करना पड़ता। यह जनसंपर्क ही था जिसके कारण चाय ने अन्न, वस्त्र की तरह अपना स्थान अनिवार्य दैनिक आवश्यकताओं में बना लिया है। भोर होने से पहले और बहुत रात बीते तक स्टॉलों पर भीड़ लगी रहती है।

युगान्तरीय चेतना के प्रति वर्तमान स्थिति में उपेक्षा स्वाभाविक है। हर अजनबी सुधारवादी प्रस्तुतीकरण का प्रारंभ में उपहास-तिरस्कार होता रहा है। बहुत दिन बाद ही सतत प्रयास से प्रवाह को मोड़ना संभव हुआ है। यही बात वर्तमान लोकमानस के संबंध में भी है। उसे अपरिचित तथ्यों से परिचित कराने से लेकर सहमत

बनाने तक की लम्बी मंजिल युग शिल्पियों को ही पूरी करनी पड़ेगी। वक्तृता का उपयोग सही लोगों में सही स्तर पर हो सके, इसके लिए चाय प्रचारकों की नीति अपनानी पड़ेगी। उस लम्बी भूमिका के निर्वाह में जितनी प्रगति होगी, उतना ही सफलता का पथ प्रशस्त होगा।

प्रज्ञा अभियान के आरंभिक दो प्रयोगों में से एक है घर-घर हर शिक्षित को नियमित रूप से प्रज्ञा साहित्य पढ़ाने और वापिस लेने के लिए जाना। ज्ञानरथ इसी के लिए जगह-जगह बनाये और चलाये जा रहे हैं। दूसरा प्रयोग है स्लाइड प्रोजेक्टर। मोहल्ले-मोहल्ले प्रकाश चित्रों को दिखाते हुए युगान्तरीय चेतना का आलोक जन-जन के मन में प्रवेश करना। इसमें लोकरंजन और लोकमंगल-दोनों का समन्वय होता है और जनता को एकत्रित करने में कहीं भी कठिनाई नहीं पड़ती। मुहल्ले के बाल-वृद्ध, नर-नारी सहज ही उस विनोद-कौतूहल को देखने के लिए एकत्रित हो जाते हैं। इन दोनों प्रयोगों में वक्तृत्व कला के अभ्यासी को भाषण और संभाषण-दोनों का अभ्यास करने का अवसर मिलता है। घर-घर साहित्य देने, वापिस लेने के लिए जाने पर कुछ तो पूछना-बताना ही पड़ेगा। पोस्टमेन की तरह तार, चिट्ठी फैलाकर तो चल नहीं देना है। अपना प्रयोजन और पुस्तकों का माहात्म्य बताये बिना तो पढ़ने वालों की अभिरुचि ही नहीं जगेगी। साहित्य प्रसार की प्रक्रिया में संभाषण कला का अभ्यास करने और उसे विकसित-परिष्कृत करने की पूरी-पूरी गुंजाइश है। जन संपर्क साधने से ही समर्थन और सहयोग प्राप्त करने की सफलताओं का दर्शन हो सकेगा। संपर्क साधने में प्रज्ञा साहित्य का प्रचार सर्वोत्तम है। इसमें देना ही देना है, लेना कुछ नहीं। ऐसी प्रक्रिया लोकप्रिय क्यों न होगी? इसमें निरत लोगों को सहानुभूति क्यों नहीं मिलेगी? कृतज्ञता का लाभ निश्चित रूप से लौट कर मिलेगा।

इसी प्रकार दूसरे प्रयोग 'स्लाइड प्रोजेक्टर' में भाषण कला का अभ्यास अनवरत रूप से चलता रह सकता है। आज इस मुहल्ले तो कल उस मुहल्ले की योजना बना लेने पर पूरे वर्ष यह कार्यक्रम चलता रह सकता है। एक वर्ष की स्लाइडें जब तक पूरी होती हैं, तब तक नये वर्ष के अगले चित्र बन कर आ जाते हैं और यह चलता फिरता सिनेमा, नई-नई फिल्म स्लाइडें दिखाते हुये अपनी प्रचार प्रक्रिया को निश्चित रूप से गतिशील रखे रह सकता है। भाषण कला के अभ्यास में जनता को एकत्रित करने का इससे सरल, सस्ता, आकर्षक और सुनियोजित तरीका और कोई हो ही नहीं सकता।

यह चलती फिरती प्रक्रिया हुई। इससे आगे का सभा-सम्मेलनों का, विचार गोष्ठियों का वह स्वरूप बनता है, जिसमें मंच से बोलने की प्रक्रिया सधती है। इसमें जन्मदिवसोत्सव मनाने की बात पहले कही जा चुकी है। इस स्तर के आयोजन अपनी मित्र मंडली से आरंभ किये जा सकते हैं और किसी को भी प्रोत्साहित करके इस हर्षोत्सव के लिए बात की बात में सहमत किया जा सकता है। दो-चार रुपये खर्च करने जैसी छोटी सी व्यय व्यवस्था निर्धन से निर्धन भी वहन कर सकता है। विशेषतया तब, जब उसे हीरो बनने का अवसर मिलता है और घर पर मित्र-संबंधियों को एकत्रित होने का आनंद मिलता है। आतिथ्य खर्चीला न होने पाये, इस प्रतिबंध से यह कार्यक्रम नितान्त सरल हो गये हैं। हवन की प्रक्रिया इतनी सरल-सस्ती बना दी गई है कि वह एक-दो रुपये में ही अच्छा खासा वातावरण बनाने और उत्साह उत्पन्न करने की आवश्यकता पूरी करती है। यदि अपना निश्चय हो, तो सप्ताह में एक आयोजन का प्रबंध अपने एकाकी प्रयत्न से अपने ही संपर्क क्षेत्र में भली प्रकार हो सकता है। महिलाएँ यह कार्य महिलाओं का जन्मदिन मनाकर-

बच्चों के षोडश संस्कारों की योजना बना कर अपने क्षेत्र में मूर्धन्य बन सकती हैं और वक्तृता के अभ्यास में निपुण हो सकती हैं।

पर्व आयोजन इससे बड़ी और अधिक प्रभावी योजना है। वसन्त, होली, गायत्री जयन्ती (गंगा दशहरा), गुरु पूर्णिमा, श्रावणी, सिद्ध अमावस्या, दीवाली, रामनवमी, जन्माष्टमी, शिवरात्रि आदि पर्वों की छुट्टियाँ होती ही हैं। लोग जानना भी चाहते हैं कि आखिर इन प्रयोजनों के पीछे उद्देश्य क्या है? इन पर्वों पर रात्रि को या प्रातः काल जब स्थानीय सुविधा दीखे, एक छोटा पर्व आयोजन किया जा सकता है। इसमें थोड़ा सा धार्मिक कर्मकाण्ड मिला रहने से वातावरण में श्रद्धा का पुट लगता है और साथ ही लोकशिक्षा की विभिन्न दिशाधाराओं पर प्रकाश डालने का इन पर्वों पर सहज अवसर मिलता है। इन आयोजनों के लिए वक्तृत्व कला के अभ्यासी को स्वयं भी प्रयत्नरत रहना चाहिए और साथी-सहयोगियों की सहायता से उसे आकर्षक, सफल बनाने में जुटना चाहिए। यह प्रवाह उलटने की दृष्टि से तो महत्त्वपूर्ण है ही, इसमें अभ्यासी को अपने लिए स्वनिर्मित मंच खड़ा करने और अभ्यास बढ़ाने का भी सुयोग सहज ही मिलता है। बड़े सम्मेलनों में बड़े वक्ता की तलाश होती है, पर जन्म दिवसोत्सव और पर्वों की मुहल्ला गोष्ठियों में तो आरम्भिक वक्ता भी मान-सम्मान पाता है।

दूसरे बड़े आयोजन नवरात्रियों के साधना पर्व हैं। इनमें नौ दिन लगातार चलने वाले सामूहिक धर्मानुष्ठान आयोजनों में जो भागीदार बनते हैं, नियमित रूप से उपस्थिति होते ही हैं। साथ ही पाँच अन्य साथियों को घसीट कर लाने की बात भी उनकी पुण्य प्रक्रिया में सम्मिलित की गयी है। इस आधार पर सभी अनुष्ठान कर्त्ता अपने साथ सौ और समेट लाते हैं। कुछ इधर-उधर के आ जाने से डेढ़-दो



सौ की उपस्थिति पूरे नौ दिन तक बनी रहती है। वर्ष में दो बार यह अवसर आते हैं। गायत्री के माध्यम से प्रज्ञा अभियान के समस्त प्रतिपादनों को उपस्थित समुदाय को हृदयंगम कराने में सुविधा होती है। ऋतम्भरा गायत्री की साधना और प्रज्ञा अभियान की युगान्तरीय चेतना एक ही तथ्य के दो रूप हैं। दोनों का समन्वय बड़ी सरलता और सुन्दरता के साथ निभ जाता है। नदरात्र सत्रों के अन्यान्य अनेकों लाभ हैं। उनमें से एक लाभ यह भी है कि वक्तृत्व कला के अभ्यासी स्थानीय आयोजनों में विचार व्यक्त करते-करते इतने अभ्यस्त, निपुण बन सकते हैं कि बृहद् सम्मेलनों में प्रमुख वक्ता की आवश्यकता पूरी कर सकने में सफल हो सकें।

जहाँ बोलने में अड़चन पड़ती हो, विचारों का तारतम्य न बैठता हो, वहाँ पढ़कर सुना देना भी एक उपाय है। युग साहित्य जिन हाथों से लिखा जा रहा है, उनमें जो आग रहती है, उसकी समीपता तथा गर्मी सभी को रुचती है। यह कहा जाये कि एक प्रेरणा स्रोत के अंतराल से निकली ऊर्जा को उपस्थित लोगों तक पहुँचाने, उससे अवगत कराने भर का विनम्र प्रयास किया जा रहा है, तो उपस्थित लोग किसी लेख को सुनने के लिए उतने ही उत्साह से तैयार रहते हैं, जितना कि स्थानीय वक्ता का भाषण सुनने के लिए। छपे को पढ़कर सुना देने में भी कलात्मक उभार लाने पड़ते हैं। इस भाव अभिनय के लिए इस प्रकार सुनाये जाने वाले भाषणों में अधिक गुंजायश रहती है, क्योंकि इनमें कुछ सोचने, याद रखने की आवश्यकता नहीं पड़ती, साथ ही प्रवाह क्रम बिगड़ने जैसी अड़चन भी सामने नहीं आती। ज्ञान गोष्ठियों में इस प्रकार लेख या पुस्तकों का अंश सुना देने का भी कम से कम प्रज्ञा परिजनों को तो अवसर है ही। वे इसे सुनने में जिस हस्ती का प्रतिनिधित्व करते हैं, उसे

वक्तृता में भागीदार रखने से जहाँ अपना वजन हलका होता है, वहाँ भी उसकी प्रभावशक्ति में कोई कमी नहीं आती।

वक्तृता के अभ्यास के लिए दूसरा चरण यही है कि अनुरूप व्यक्तियों की उपस्थिति हो और सुनने और समझने के लिए पूर्व भूमिका ऐसी हो, जिसमें सुनने वालों को अपनी मर्जी के विपरीत सुनने पर अनख न लगे, अरुचि उत्पन्न न हो और बीच में ही उठ चलने जैसी कुरुचिपूर्ण परिस्थिति उत्पन्न न हो। इस उपचार को जो भी अपनायेंगे, उसे भाषण शिक्षा का एक अनिवार्य अंग मानेंगे और अपने श्रोता आप जुटायेंगे। उन्हें यह शिकायत नहीं करनी पड़ेगी कि नौसिखिया होने के कारण कोई उनकी वक्तृता सुनने नहीं आता। न अपने को दोष देना पड़ेगा और न लोगों की अभिरुचि को कोसना पड़ेगा। जिन्हें सचमुच ही कुशल वक्ता बनना हो, उन्हें इतना झंझट भी ओढ़ना चाहिए। सस्ते में बड़ी उपलब्धियाँ पाने की फिराक में रहने वाले हर क्षेत्र में असफल रहते हैं। कुशल वक्ता बनने में ही सस्ता सौदा खरीदने वालों को सफलता किस प्रकार मिल सकेगी।

प्रवचन कला के संबंध में कुछ बातें और भी ध्यान रखने योग्य हैं। एक यह कि दो घंटे से अधिक लम्बा आयोजन न खींचा जाये। पैंतालीस मिनट से अधिक लम्बी वक्तृता न दी जाये, अन्यथा लोग ऊबने लगेंगे और उठ कर चल देंगे। प्रज्ञापुराण की एक मीटिंग भी डेढ़ घंटे से अधिक की न हो, आधा घंटा संगीत-कीर्तन में, पूजा-प्रार्थना में लगा देने से विविधता का समावेश हो जाता है और थकने-थकाने वाला भार वहन करने की गुंजाइश नहीं रहती। अग्रिहोत्र की प्रक्रिया के संबंध में भी यही बात है। उसमें एक घण्टे से अधिक समय न लगे, इसके लिए इन दिनों प्रचलित हवन पद्धति का और भी अधिक संक्षिप्तीकरण कर दिया गया है। लोगों के

रुझान, अवकाश को ध्यान में न रखा जाये और उन्हें अधिक देर तक रोके रहने का प्रयास किया जाये, तो उसकी बुरी प्रतिक्रिया होगी। लोग उस समय भी मन ही मन खीजेंगे और भविष्य में ऐसे आयोजनों में सम्मिलित होने की उपेक्षा करने लगेंगे।

इसी प्रकार एक बात प्रवचन शैली के संबंध में और भी ध्यान रखने योग्य है, वह है धार्मिक भाषणों में गंभीरता का, एकरसता का प्रवाह बनाए रहना। राजनैतिक मंचों पर से उत्तेजना, आवेश, कर्कशता, अपनाने एवं व्यंग्य-आक्रोश व्यक्त करने की गुंजाइश रहती है, पर धार्मिक आयोजनों में उसकी गुंजाइश नहीं है। उसमें सौम्य, शान्त, माधुर्य, करुणा एवं भाव संवेदना की सरसता रहनी चाहिए। आक्रोश उत्पन्न करने का तरीका, गरजना, चीखना, गाली-गलौज पर उतारू होना नहीं, वरन् यह है कि पीड़ित पक्ष की व्यथा से श्रोताओं को करुणार्द्र करने का प्रयत्न किया जाय। साथ ही उन्हें इसके लिए उकसाया जाये कि मर्मव्यथा को निरस्त करने में भावनाशीलों की उदार सहायता उपलब्ध होनी चाहिए। इस प्रकार भी उद्देश्य वही पूरा होता है, जो भड़काने और तोड़फोड़ पर उतारू होने के लिए उत्तेजनात्मक भाषण देने से हो सकता है। आरोप, आक्षेप वाले भाषण वक्ता को जोशीला ठहराते हैं, पर साथ ही उसे क्रोधी, झगड़ालू ठहराकर सहानुभूति भी समेट लेते हैं। यह कठिनाई तब आड़े नहीं आती जब आक्रान्ताओं के पीड़ित पक्ष को जो व्यथा सहनी पड़ी, उसे व्यक्त करते हुए श्रोताओं को रुला दिया जाये और उस करुणा के उभार को पीड़ित पक्ष की दूरगामी सहायता में नियोजित किया जाये। इस प्रकार भी आक्रान्ता, आक्रमण और अनीति प्रचलन को उखाड़ने वाला आक्रोश उत्पन्न हो सकता है। प्रज्ञा अभियान के प्रवक्ताओं की शैली में भी इसी शालीनता का समावेश रहना चाहिए।

## संभाषण के कुछ सारगर्भित सिद्धान्त

मंच पर बैठकर उपस्थित जन समुदाय के सम्मुख किसी एक विषय पर प्रवचन करना ऐसा सुयोग है, जो कभी-कभी ही संभव हो सकता है। हर दिन हर समय वह किसी के लिए शक्य नहीं; न उससे काम ही चलता है। प्रशिक्षण, परामर्श, उद्बोधन, यदा-कदा की बात है। पर्व-त्यौहारों का माहौल हर दिन नहीं रह सकता। उस उत्साह का प्रकटीकरण कभी-कभी ही उपयुक्त लगता है। शेष समय तो स्वाभाविक कामकाजी स्थिति में ही गुजरता है।

नित्य क्रम में आदान-प्रदान ही स्थान पाता है। ग्राहक-व्यापारी एक दूसरे से अपनी बात कहते हैं और सौदा पटा लेते हैं। पूछताछ जाँच पड़ताल, कुशल-क्षेम, स्वागत-विदाई, करना-कराना, शंका-समाधान, आदेश परिपालन, हँसना-हँसाना आदि के उपक्रम वार्तालाप के विषय होते हैं। इसी के सहारे बात बनती है और काम चलते हैं। साहित्यिक भाषा में इसे संभाषण कहते हैं। यह भी एक कला है। सच तो यह है कि उसकी प्रवीणता मंच प्रवचनों से भी अधिक उपयोगी तथा आवश्यक है। वार्ता कुशल व्यक्ति दूसरों को प्रभावित करते और अपनी मर्जी पर चलाते देखे गये हैं, जब कि इस कौशल से रहित व्यक्ति अपने मन की बात कह ही नहीं पाते। फलतः दूसरों को प्रभावित करना, अनुकूल बनाना, समर्थन पाना संभव ही नहीं होता। उलटे दूसरों के तर्क, कथन, परामर्श एवं दबाव के नीचे आत्म समर्पण करते देखे जाते हैं। वाक् चातुर्य में प्रवीण व्यक्ति उनसे येनकेन प्रकारेण अपना समर्थन करा ही लेते हैं, फिर वचन पालन की दुहाई देकर उसे करने का दबाव डालते हैं, यद्यपि यह बात उस दबाव से भी आधी अधूरी ही गले उतरी थी और पीछे सोचने पर वह सर्वथा अनुपयुक्त प्रतीत हुई। तर्क करते, टालते न

आरंभ में बना और न इनकारी का साहस पीछे हुआ। इस पर वे न करने योग्य करते और न मानने योग्य मानते देखे जाते हैं। आत्महीनता के कारण अपना तर्क, पक्ष, असमंजस, कारण प्रकट ही नहीं कर पाते और वह कह या कर बैठते हैं, जो उपयुक्त नहीं था।

यह आत्म रक्षा वाला पक्ष हुआ। अब वह प्रसंग सामने आता है, जिसमें अपनी बात किसी के सम्मुख रखनी है, उसे सहमत करना है, साथी बनाना या सहयोग लेना है। यह भी आवश्यक है। इस संसार में अकेलेपन से काम नहीं चलता। सहयोग आवश्यक है, सम्मिलित प्रयासों से ही छोटे-बड़े काम चलते हैं। शरीर के अवयव मिलजुल कर काम करें, तो स्वास्थ्य ठीक रहे। घर के लोग हिल - मिल कर रहें, तो परिवार चले। व्यवसाय में भी यही बात है। पाठशाला से लेकर शासन तंत्र तक में सम्मिलित प्रयत्न ही अभीष्ट उद्देश्य की पूर्ति करते हैं। उनमें सहकार एवं अनुशासन की आवश्यकता पड़ती है। इसे बनाये रहने के लिए दूसरे की सुनना और अपनी कहना आवश्यक है। यही वार्तालाप या संभाषण है, जिसे जीवन निर्वाह-व्यवसाय जैसे निजी और समाज शासन जैसे सामूहिक क्षेत्रों में निरन्तर कार्यान्वित करना पड़ता है। जो नित्य ही करना है, उसके गुण-दोषों को, सफलता के कारणों को, उपयुक्त स्तर की प्रयोग प्रक्रिया को भी जानना चाहिए, अन्यथा प्रसंग उपयुक्त एवं दोनों का हित होते हुए भी बात बिगड़ जायेगी। वाणी दोष या व्यवहार अनगढ़ होने से सामने वाला चिढ़ जायेगा और उस चिढ़ की परिणति उस उद्देश्य की विफलता में होगी, जिसे अच्छा मूँड़ रहने पर सरलतापूर्वक सहमति की सफलता तक पहुँचाया जा सकता था और उससे दोनों पक्षों को लाभ मिल सकता था।

हर प्रसंग की आरंभिक एवं आवश्यक जानकारी प्राप्त करनी होती है। रसोई पकाना, कपडे धोना, गृह व्यवस्था में काम आने

वाली वस्तुओं की साज-संभाल न आती, हो तो नव वधू को उलाहने सहने पड़ते हैं। अपेक्षा की जाती है कि वधू अपने पितृगृह से इतना तो सीख कर ही आई होगी। यही बात श्रमिकों के संबंध में है। वे जिस मजदूरी को करते हैं, उसकी विधि व्यवस्था से पूर्व परिचित होते हैं, तो स्थायी बन जाते हैं और अधिक पारिश्रमिक पाते हैं, जबकि सर्वथा अपरिचित से इच्छा होते हुए भी कुछ करते धरते नहीं बनता। अनुभवहीनता के कारण पग-पग पर गलती होती है और झल्लाहट सुननी पड़ती है। इसी कठिनाई को समझते हुए हर महत्त्वपूर्ण काम के लिए भर्ती किये जाने वाले कर्मचारियों को ट्रेनिंग देनी पड़ती है। जब सामान्य ज्ञान और काम चलाऊ अभ्यास हो जाता है, तभी कोई जिम्मेदारी का काम सौंपा जाता है।

यही बात वाक्चातुर्य या संभाषण की कुशलता के संबंध में भी है। जीभ एक अत्यन्त शक्तिशाली अस्त्र है। इसे दूसरों को अनुकूल बनने या लाभ पहुँचाने के लिए अनिवार्य रूप से प्रयुक्त करना होता है। भ्रान्तियों का निराकरण इसके बिना हो ही नहीं सकता। सुझाव देने और कुछ नये कदम उठाने के लिए उत्साह भरने में वार्त्तालाप की शैली परिष्कृत हो तो ही काम चलेगा, अन्यथा अभ्यस्त चिंतन को, आदत को, ढर्रे को बदलने के लिए किसी को सहमत कर सकना सरल नहीं है। शुरुआत अच्छी न हो, आरंभ में ही मक्खी छींक जाये, प्रथम मिलन ही अनुपयुक्त प्रभाव छोड़े, तो समझना चाहिए कि गाड़ी पटरी से उतरी और बनती बात बिगड़ी।

दो व्यक्ति मिलते हैं, तो मुख खोलने से पूर्व ही आदान-प्रदान आरंभ हो जाता है। यह प्रथम छाप छोड़ने से ही संबंधित है। आँखें किसी को देखते ही उसके संबंध में मान्यता बना देती हैं और फिर उस स्तर की मान्यता के आधार पर वार्त्तालाप का सिलसिला आरंभ

होता है। अनगढ़ वेशभूषा, खुलेबदन, अस्त-व्यस्त हजामत, साथ में बेतुका सामान देखकर लगता है कोई अधपागल आया। कायदा-करीना, शरीर-सज्जा, साथ वाले सामान का स्वरूप, खड़ा होने, चलने का क्रम, यह बता देता है कि नवागन्तुक को सभ्य लोगों के बीच रहने, सुसंस्कारी लोगों के साथ व्यवहार करने का अवसर मिला है या नहीं, जूते कहाँ उतारे, छाता कहाँ रखे, कमरे में प्रवेश करने से पूर्व आज्ञा माँगी या नहीं, अभिवंदन किया या नहीं, चेहरे पर मिलन की सहज मुस्कान उभरी या नहीं, बैठने के लिए उपयुक्त स्थान परखा या नहीं—यह बातें बताती हैं कि आगन्तुक व्यावहारिक सभ्यता से परिचित है या नहीं। बिना मिलने वाले की सुविधा-असुविधा का विचार किये दनदनाते हुए चले जाना और अन्यान्यों से चल रही वार्त्ता में व्यवधान उत्पन्न करते हुए सर्वप्रथम अपने साथ जुट जाने की आशा करना असभ्यता की निशानी है। ऐसे लोग महत्त्वपूर्ण होते हुए भी खीज उत्पन्न करते हैं और मिलते समय ही अपने अनगढ़ होने के एक-एक करके कई प्रमाण उपस्थित करते हैं। स्मरण रखा जाये कि अनगढ़ मिलन-व्यवहार भी वैसा ही है, जैसा कि किसी श्रमिक का ईमानदार, मेहनती होने पर भी बताये हुए काम से अपरिचित होने के कारण बेतुकी हरकतें करने लगना। दो व्यक्तियों का मिलन एक सुसंयोग है, उसे फलप्रद बनाने के लिए शुभारंभ शालीनता की—सुसंस्कारिता की छाप छोड़ने से होना चाहिए।

यही बात मेजबान की ओर से मेहमान के साथ किए गए मिलन व्यवहार के संबंध में लागू होती है। उसे आगन्तुक को देखते ही प्रसन्नता व्यक्त करनी चाहिए और अभिवादन की परम्परा का तत्काल निर्वाह करना चाहिए। आवश्यक हो तो कुर्सी पर से खड़ा भी होना चाहिए और सम्मानपूर्वक बैठने का स्थान देना चाहिए।

इसमें विलम्ब करना, चालू वार्ता या कार्य में रहना, फुरसत पाने पर स्वागत का उपक्रम करना, यह बताता है कि आगन्तुक का मूल्यांकन नहीं हुआ। उसे सम्मान नहीं मिला, यह खटकने वाली स्थिति है। वार्ता आरंभ होने से पूर्व ही वह पृष्ठभूमि बन जाती है, जिसमें एक दूसरे के संबंध में धारणा बना ली जाती है और वह विचार-विनिमय में आदि से अंत तक सहायक या बाधक बनी रहती है।

क्या कहा गया? उसमें क्या नफा-नुकसान था? उसकी आवश्यकता-उपयोगिता क्यों पड़ी? यह तब प्रकट होता है, जब मिलन शिष्टाचार को-एक दूसरे के स्वरूप-सामान को देखकर स्तर जाँचने का अध्याय पूरा हो लेता है। पुस्तकों के प्रथम अध्याय में भूमिका होती है। उसे पढ़कर यह अनुमान लग जाता है कि लेखक का क्या अभिप्राय है और पुस्तक में आगे चलकर क्या बताया जायेगा। ठीक इसी प्रकार लोग मिलन के समय ही एक दूसरे के स्तर को समझने का, सही-गलत अनुमान लगा लेते हैं। बात काम की होगी या नहीं, यह जानने से पूर्व यह जाँच पड़ताल होती है कि आदमी वजनदार है या नहीं। यदि लगे कि आगन्तुक अनगढ़, असभ्य बेतुका या घटिया स्तर का है, उसके साथ वार्ता करने में जो समय लगेगा वह व्यर्थ ही चला जायेगा, तब प्रयत्न यह होता है कि आगन्तुक द्वारा आरम्भ की गई वार्ता को जितनी जल्दी संभव हो निपटा दिया जाये। उपेक्षा, असमर्थता, अनभिज्ञता, व्यस्तता, चिन्ता, अस्वस्थता आदि के कितने ही बहाने ऐसे हैं, जिनका आभास देकर आगन्तुक को जल्दी चले जाने का संकेत किया जाता है। इतने पर भी वह न टले, तो फिर थोड़ा कड़क कर स्पष्ट शब्दों में विदा होने के लिए कहना पड़ता है। ढिठाई में यह दोष है कि अपनी ही कहती चली जाती है, दूसरों की इच्छा, सुविधा, स्थिति को देखती ही नहीं।



ऐसे कहीं जाने पर उपेक्षित-तिरस्कृत होकर लौटें, तो उसे वार्त्ता के विषय की अनुपयुक्तता न मानकर यही कहना होगा कि मिलन के अवसर पर अच्छी छाप छोड़ने की बात बनी नहीं और बिना सिगनल के चल पड़ने वाली गाड़ी जैसा असमंजस खड़ा हो गया।

वार्त्ता आरंभ करने से पूर्व आधी बात समाप्त हो जाती है, वैसे ही जैसे कि जन्म लेने से पूर्व माता के उदर में बालक सुसंस्कार-कुसंस्कार की पढ़ाई पूरी कर लेता है। वार्त्ता किस प्रसंग पर की जाती है? यह बाद की बात है। पहली बात यह है कि अपनी विनयशीलता का प्रदर्शन और दूसरे के सम्मान रक्षा का निर्वाह हुआ या नहीं। हर व्यक्ति जन्मजात स्वाभिमानी होता है। यह उसका मौलिक अधिकार भी है। आत्मा की विभिन्न भूखों और आवश्यकताओं में एक सम्मान रक्षा भी है। यही आगे चलकर यश लिप्सा, ठाट-बाट, उद्धत, प्रदर्शन, दुस्साहस आदि का रूप धारण करके ऐसे जाल-जंजाल बुनती है, जो खर्चीले भी होते हैं और बेतुके भी; किन्तु किया क्या जाये, सम्मान पाने की आवश्यकता को सीधे रास्ते पूरा करने का मार्ग न मिले, तो यह गलत मार्ग से फूटेगी। छोटे बच्चे भी सम्मान चाहते हैं और उसका परिचय प्यार-दुलार के संकेतों द्वारा समझते हैं। तदनुरूप अपनी प्रसन्नता-अप्रसन्नता व्यक्त करते हैं। यह मान रक्षा हर किसी की होनी चाहिए। यही शिष्टाचार व्यवहार है। इसका निर्वाह वार्त्ता के साथ-साथ भी होना चाहिए। सद्गुणों की, सफलताओं की सूझबूझ की, बीच-बीच में चर्चा करते रहा जाये, तो वार्त्ता निश्चित रूप से अधिक प्रभावी हो जायेगी। सम्मान पाकर हर किसी के गर्व की तुष्टि होती है। प्रशंसा सुनकर हर किसी की बाँछें खिल उठती है। यह रिश्तत यदि सामने वाले को देते रहा जाए, तो उसका समर्थन एवं अनुग्रह अर्जित करने के मार्ग की आधी कठिनाई दूर हो जायेगी।

प्रभावी वार्त्ता की दूसरी विशेषता है—कहने वाले की नम्रता, विनयशीलता। इसे सज्जनता का एक अंग माना गया है। अपनी शेखी बघारते रहने वाले, पग-पग पर मियाँ मिट्टू बनने वाले, अपनी योग्यता, सफलता, सम्पदा का बखान करते रहने वाले सोचते तो यह हैं कि इससे सामने वाले पर रोब गाँठना संभव होगा और वह अपनी गरिमा के आगे नतमस्तक होगा, पर वस्तुतः यह दाव हमेशा खाली जाता है। इतना ही नहीं, उसका परिणाम कई बार तो ठीक उलटा होता है। बखान सही-सही किया जा रहा है; पर उसके वर्णन में जो दूसरों का समय लिया गया, उससे उत्पन्न हुई प्रतिक्रिया शेखीखोरी समझी जाती है और अहंकारी ठहराती है। इससे वक्ता के मान और स्तर दोनों को ही क्षति पहुँचती है।

वार्त्ता में यदि अत्यन्त आवश्यक हो, तो ही मैं..मैं का उच्चारण करना चाहिए अन्यथा उसकी चर्चा न करना ही अधिक उपयुक्त है। प्रसंगवश यदि अत्यन्त आवश्यक हो जाये, तो वहाँ हम लोग शब्द का प्रयोग करना चाहिए। नवसृजन अभियान की गतिविधियों की विचारधारा के संबंध में तो यह और भी अधिक ध्यान रखने योग्य है; क्योंकि इस प्रसंग में यदि कोई सफलता मिली है, तो उसका श्रेय किसी एक व्यक्ति को नहीं मिल सकता। उसके पीछे अनेकों का छोटा-बड़ा सहयोग जुड़ रहा है। सफलता का श्रेय अपने ऊपर लेने में मैं की बात बार-बार कहने से कई कठिनाइयाँ उत्पन्न होती हैं। एक तो यह है कि इस प्रकार के लोग अहंकारी माने जाते हैं। सामने वाले पर बड़प्पन की छाप छोड़ने वाला प्रकारान्तर से उसे नीचा दिखाने वाला सिद्ध होता है, दूसरा इसका अर्थ यही लेता है। नम्रता के व्यवहार में दूसरा अपने को सम्मानित-विजयी मानता है और वक्ता के बार-बार मैं-मैं कहने पर अनुभव करता है कि अपना

बढ़प्पन जताकर प्रकारान्तर से मुझे छोटा सिद्ध किया जा रहा है। इससे उसे चोट लगती है और मन ही मन अप्रसन्नता व्यक्त करता है। तीसरी एक और कठिनाई है कि साथियों में से कोई पास बैठा हुआ सुन रहा हो या किसी के मुँह सुने, तो उसे लगेगा कि जिस प्रयास या जिस सफलता में हम सब का भी छोटा-बड़ा योगदान रहा, उसका मटियामेट किया जा रहा है और श्रेय स्वयं लूटा जा रहा है। इस प्रकार साथियों के मन में असंतोष पैदा होता है और परस्पर कलह के बीज अंकुरित होने लगते हैं। सामने वाला समझदार हुआ, तो उसे भी इस बात का पता चलता है कि सम्मिलित प्रयत्नों द्वारा उपलब्ध हुई सफलताएँ एक के प्रयत्न का प्रतिफल नहीं हो सकतीं। फिर जो उस संदर्भ में श्रेय सूचक विवरण मैं-मैं के साथ प्रस्तुत कर रहा है, वह उथला, बचकाना होना चाहिए। यही है यह तथ्य जिससे कि मैं-मैं कह कर अपने बखान के लिए आतुरता व्यक्त करने वाला उलटा घाटे में रहता है। वह जितनी छाप छोड़ता है, उससे अधिक सुनने वालों की आँखों में गिरता चला जाता है।

यदि वार्ता किसी प्रतिपादन, सिद्धान्त या कार्यक्रम के संदर्भ में की जा रही है, तो उसका उद्गम केन्द्र वक्ता नहीं, वह मात्र वाहक है। ऐसी दशा में भी किसी सिद्धान्त की महत्ता बतानी हो, तो उसकी विशेषताओं का वर्णन कर देना ही पर्याप्त है। वह सिद्धान्त किसका है? किसने उसे प्रसारित किया, उसके लिए श्रेय ऋषियों को, शास्त्रों को, आप्त पुरुषों को देना चाहिए। यदि इससे नीचे उतरना हो, तो अपने मिशन को आगे रखा जा सकता है, जिसने युग चेतना उत्पन्न करने वाली विचारधारा का सामयिक आवश्यकताओं के अनुरूप नये सिरे से निर्धारण किया है। सभी दृष्टि से मैं-मैं कहने की उपयोगिता सिद्ध नहीं होती और उसका जितनी बार उच्चारण

किया जाता है उतने ही बार वक्ता का वजन घटता है और जो कहा जा रहा है, उसके प्रति सामने वाले की सहानुभूति उत्पन्न होने का अवसर कम होता है।

नवसृजन की विचारधारा का आमतौर से विज्ञ समाज में समर्थन होना चाहिए, पर यदि कहीं उपेक्षा-अवहेलना हो रही हो, तो देखना चाहिए कि प्रस्तुतीकरण कहीं घटिया स्तर का-घटिया ढंग से तो नहीं हुआ ? व्यवहार कुशलता, वाक्पटुता में कमी होना एक ऐसा अवरोध है, जो बनती बात को बिगाड़ देता है। प्रश्न सिद्धान्तों का न रहकर व्यक्तिगत रोष, असंतोष का बन जाता है। उसका प्रभाव व्यक्तिगत विग्रह-विरोध तक सीमित न रहकर सिद्धान्तों, कार्यक्रमों का विरोध बनकर उभरता है। इसलिए आदर्शों की चर्चा करने वाले, उन्हें दूसरे के गले उतारने वाले को बहुत ही सावधानी और दूरदर्शिता से काम लेना चाहिए। उसे दूसरों को मान देने और अपनी विनयशीलता प्रकट करने में कहीं भी चूक नहीं करनी चाहिए। बन पड़े तो बात-बात में ऐसे प्रसंगों का समावेश करते रहना चाहिए, जिसमें अपनी नम्रता और सामने वाले की विशिष्टता की चर्चा होती चले। इसमें अत्युक्ति की, चापलूसी की भी आवश्यकता नहीं। हर व्यक्ति में जहाँ कुछ दोष होते हैं, वहाँ उसमें गुण भी रहते हैं। दोषों पर ध्यान न देकर गुणों, सफलताओं पर दृष्टि डाली जाये, तो कोई भी विशेषताओं से सर्वथा रहित नहीं मिलेगा। तिल का ताड़ बनाने की जरूरत नहीं है। जिस प्रशंसा की गुंजाइश है, उसी का उल्लेख कर देने से मान मिल जाता है। इस मनोवैज्ञानिक तथ्य को जो जानते हैं, वे अपने-अपने क्षेत्रों में भरपूर सफलताएँ पाते हैं। ठग-चापलूस प्रायः इसी हथियार को काम में लाते हैं। विलासी सामग्री बेचने वाली दुकान के 'सेल्समेन' इसी कला में प्रवीण होते हैं। जो इस हथियार का जितनी

बार, जितनी खूबसूरती से प्रयोग करता है, वह उतनी ही अधिक बिक्री कर लेता है। जबकि रूखी प्रकृति के कर्कश लोग तुलनात्मक दृष्टि से आधा-अधूरा लाभ भी अर्जित नहीं कर पाते। यहाँ ठगी-चापलूसी की शिक्षा नहीं दी जा रही है, वरन् यह कहा जा रहा है कि जिस कुशलता को अपना कर ओछे उद्देश्यों में भी सफलता मिल सकती है, उसके उपयोग से उच्च स्तरीय कार्यों में अनुकूलता क्यों उत्पन्न नहीं की जा सकेगी?

पहली बार असमति रहने पर भी संबंध तोड़ कर, खीजकर अप्रसन्नता व्यक्त करते हुए, लांछन लगाते हुए नहीं लौटना चाहिए, वरन् आगे के लिए रास्ता खुला रखना चाहिए। विदाई यह कहते हुए ही लेनी चाहिए कि अपनी बात को ठीक तरह प्रस्तुत कर सकना शायद इस बार बन नहीं पड़ा। अगली बार इस प्रसंग पर हम लोग फिर कभी अवसर मिलने पर शान्त चित्त से चर्चा करेंगे, तब तथ्यों को समझने-समझाने का प्रयत्न करेंगे। वार्ता की समाप्ति पर सुनने वाले का समय लिया गया, उसके प्रति कृतज्ञता व्यक्त करना तो कभी भूलना ही नहीं चाहिए। हर व्यक्ति का समय अपना है, उसे अधिकार है कि अपनी वस्तु को मनमर्जी से खर्च करे। यदि किसी नवागन्तुक ने बिना बुलाये आने और बिना पूछी बात का प्रसंग चालू कर दिया है तो वस्तुतः यह सामने वाले का अनपेक्षित समय लेना ही हुआ। अच्छा तो यह होता कि कहने से पूर्व ही यह पूछ लिया गया होता कि आपका कुछ समय अमुक संदर्भ में चर्चा के लिए लेना क्या इस समय शक्य है? हाँ कहने पर ही वार्ता आरंभ की जाये। पर यदि वैसा नहीं बन पड़ा, तो चलते समय तो उस अनधिकारी अपहरण के लिए अपनी कृतज्ञता व्यक्त करने के साथ-साथ उसकी उदारता की भी सराहना करनी चाहिए। जो ऐसा नहीं करते, किसी

के सिर पर समय-कुसमय जा चढ़ते हैं और मनचाहे समय तक बकवास करते रहने को अपना अधिकार मानते हैं, वे सभ्यता के सामान्य नियमों से अपरिचित माने जाते हैं। ऐसा अनगढ़पन किसी भी संभाषणकर्त्ता को, वार्त्ता प्रसंग आरंभ करने वाले को प्रदर्शित नहीं करना चाहिए।

जो कहना हो वह लम्बी भूमिका बनाने की अपेक्षा संक्षिप्त किन्तु सारगर्भित कहना चाहिए। उस कथन के प्रतिपादन को कार्यान्वित करने पर व्यक्तिगत-सामूहिक लाभ क्या-क्या हो सकते हैं? न अपनाये जाने पर इन दिनों क्या-क्या हानियाँ हो रही हैं और भविष्य में क्या हो सकती हैं? इस प्रकार प्रकाश डालने से सुनने वाले का आकर्षण बढ़ता है और वह समझता है कि कोई महत्त्वपूर्ण चर्चा आरम्भ होने जा रही है। इतना न समझ सकने पर अपनी रुचि से भिन्न प्रकार की बात बेतुकी मानी जाती है और उसे करना तो दूर, सुनना तक भारी पड़ता है। इसलिए प्रसंग की उपयोगिता, आवश्यकता, अनिवार्यता, महत्ता पर आरम्भ में ही प्रकाश डालना आवयक है। फिर जो कहना हो उसके पक्ष-विपक्ष के तर्क, तथ्य, प्रमाण, उदाहरण प्रस्तुत करते हुए अपनी बात वजनदार होने की छाप छोड़नी चाहिए। यह कार्य मात्र भावुकता व्यक्त करने या अपनी मान्यता सुना देने से नहीं हो सकता। लोग तर्क, तथ्यों से प्रभावित होते हैं। कोई क्या मान्यता रखता है, इससे किसी को क्या वास्ता? अपनी बात थोपना और तत्काल उससे सहमत करा लेना अनाधिकार चेष्टा है, अपने पक्ष को कुशल वकील की तरह प्रस्तुत करना चाहिए और सुनने वाले को अदालत मानकर उसे अपने पक्ष में करने का धैर्यपूर्वक प्रयत्न करना चाहिए। सफलता न मिलने या आंशिक सहमति मिलने पर भी खीजने की आवश्यकता नहीं। कोई वकील

किसी अदालत से इसलिए दुश्मनी नहीं बाँधता कि उसके तर्क अमान्य ठहराये गये और फैसला वैसा नहीं हुआ जैसा कि उसने चाहा था। वकील सोचता है कि उसका काम अपना पक्ष मजबूती से प्रस्तुत कर देना भर था, सो कर लिया गया। अदालत का सोचने का ढंग अपना है, वह अपने दृष्टिकोण से फैसला करेगी। इतनी धृष्टता कोई वकील नहीं करता कि पक्ष प्रस्तुत करने के साथ ही यह मान्यता भी बना ले कि अपनी मर्जी का फैसला लिखा कर हटेगा। संभाषणकर्त्ता की मनःस्थिति भी ऐसी ही होनी चाहिए। उसे हँसते-हँसाते अपना प्रसंग चलाना चाहिए और प्रारम्भ से ही यह गुंजाइश रखनी चाहिए कि यदि सहमति न हुई, सहयोग न मिला तो भी कटुता उत्पन्न न होने दी जाएगी और भावी विचार विनिमय का द्वार खुला रखा जाएगा, विग्रह तभी खड़ा होता है जब थोपने की मुद्रा अपनाई जाये। इच्छित वस्तु लेकर हटने की मनोवृत्ति प्रकारान्तर से डाकुओं या बलात्कारियों जैसी मानी जाती है। यह लोक व्यवहार से बाहर की बात है। हर किसी को अपना पक्ष प्रस्तुत करने में कुशलता बरतने भर से संतुष्ट रहना चाहिए। दस जगह कहने पर एक जगह भी पूरी या अधूरी सफलता मिली, तो उतने पर भी प्रसन्न रहा जा सकता है। बूँद-बूँद करके घट भरता है। एक-एक का समर्थन नित्य अर्जित करते चलने पर महीने में तीस को अनुकूल बना लेना कम प्रसन्नता की बात नहीं है। दस से कहने पर एक का ही समर्थन मिला; इस संदर्भ में नौ की असफलता को नहीं, एक ही सफलता को ही सौभाग्य मानना चाहिए। पनडुब्बे बार-बार डुबकी लगाते हैं, पर हर बार उन्हें मोतियों से झोली भर कर लौटने का अवसर कहाँ मिलता है? आतुर लोग ही तत्काल, भरपूर, मनचाही सफलता की आशा करते हैं; चर्चा करते ही समर्थन की अपेक्षा करते हैं। यह

भावुकों, आतुरों का काम है। यथार्थतावादी समझते हैं कि प्रवाह के विपरीत चर्चा करते रहने पर भी सफलता सीमित ही मिलेगी। इसलिए सदा उपलब्धियों पर प्रसन्नता व्यक्त करने, संतुष्ट रहने और भविष्य में अधिक अनुकूलता उत्पन्न होने की आशा संजोये रहने का ही प्रयत्न करना चाहिए। जो असफलताओं का लेखा जोखा रखते हैं, उन्हें निराशा घेर लेती है? हाथ-पाँव फूल जाते हैं और कुछ करते-धरते नहीं बन पड़ता। इस विपन्नता से बचने के लिए, खदानें खोजने के लिए वन-वन भटकने वालों से धैर्य धारण करना सीखना चाहिए।

किससे कितनी देर बात करनी चाहिए। इस संदर्भ में सामने वाले की मनःस्थिति और परिस्थिति को बारीकी से ताड़ना चाहिए। व्यस्त लोग थोड़ी देर में सार संक्षेप सुनने से ही जितना उनके काम का होता है, समझ लेते हैं छोटे बच्चों की तरह पाठ पढ़ाने, आल्हा गाने की आवश्यकता नहीं पड़ती। फिर कभी-कभी किसी का भी मूँड़ बिगड़ा हुआ होता है या निजी कठिनाइयों के कारण उस समय मर्जी से भिन्न प्रकार की बातें सुनने का मन नहीं होता। ऐसी दशा में किसी पर लद पड़ना या अपने विचार थोपने की व्यग्रता दिखाना अनुपयुक्त है। अपनी सुविधा या मनःस्थिति क्या है? यही सब कुछ नहीं मान लेना चाहिए। सामने वाले को भी समझना चाहिए और परिस्थिति के साथ तालमेल बिठाते हुए वार्ता को हलकी या भारी करना चाहिए।

अच्छा हो चर्चा का आरम्भ सुनने वाले के स्वभाव, रुझान, व्यवसाय, परिवार के संबंध में रुचि लेते हुए इस क्षेत्र की कठिनाइयों पर संवेदना, सहानुभूति प्रकट करते हुए, सफलताओं पर प्रसन्नता व्यक्त करते हुए किया जाए। हर व्यक्ति अपने आप में व्यस्त और



मस्त है। उसे अपनी स्थिति ही सर्वोपरि महत्त्व की प्रतीत होती है। उसमें रस लेने वाले हितैषी एवं आत्मीय माने जाते हैं। ऐसों की अन्य बातें भी सुहाती हैं। इसलिए पूरा समय सैद्धान्तिक चर्चा में ही न लगाकर उसका आदि और अंत ऐसा रखना चाहिए, जिसमें आत्मीयता, घनिष्ठता, पारिवारिकता का भी पुट रहे। इस प्रसंग में यदि तिहाई-चौथाई समय लग जाये, तो उसे निरर्थक नहीं मानना चाहिए, वरन् बीज उगने के लिए खाद का जुगाड़ बिठाने की तरह आवश्यक ही मानना चाहिए।

## मात्र भाषण ही नहीं, साथ में गायन भी

इच्छित उपयोग के लिए बहुत से कला कौशल सीखे जाते हैं। इस प्रयास में अपनी आजीविका, ख्याति, सुविधा आदि का लाभ उठाना ही प्रमुख उद्देश्य होता है। भाषण कला भी अन्य कला कौशलों की तरह एक उपजाऊ व्यवसाय है। सेल्समैन, बीमा एजेण्ट, दलाल आदि भाषण तो नहीं करते, पर उनकी संभाषण कला में कोई कमी भी नहीं रहती। धर्मोपदेशक, कथावाचक एवं चित्र-विचित्र आवरण और संस्था संगठनों के संचालक इस कौशल के सहारे ही प्रभुत्व जमाते और प्रकारान्तर से ख्याति और सम्पदा का प्रचुर लाभ अर्जित करते देखे गये हैं। नट नायकों को भी इसी वाचालता का सहारा लेना पड़ता है। दरबारी प्रकृति के लोग तो इसी के सहारे जीवित रहते हैं। ठग, चमचे, विदूषक, चापलूसी के लिए तक यह कला ही निर्वाह का माध्यम बनी होती है। यह पुस्तक उनके लिए नहीं लिखी गई है और उन्हें अपने सम्भाषण के साथ किन हथकंडों का समावेश करना होगा? इस रहस्योद्घाटन का उल्लेख भी इन पंक्तियों में अभीष्ट नहीं, क्योंकि उस समुदाय को ध्यान में रखते हुए यहाँ कुछ सोचा-विचारा ही नहीं गया। स्वार्थ सिद्धि के लिए किस प्रकार की, किस स्तर की वाचालता अभीष्ट होती है? इस संदर्भ में पाश्चात्य लेखकों की ढेरों पुस्तकें मण्डी में उपलब्ध हैं। उनकी बिक्री भी लाखों की संख्या में होती है।

यह पुस्तक जन जाग्रत आत्माओं के लिए लिखी गई है, जो नवसृजन के इस पावन पर्व पर युगशिल्पी की भूमिका संपन्न करने को उत्सुक हैं, जिन्हें लोकमानस का परिष्कार अभीष्ट है। जो जन जागरण की बात सोचते हैं और जन-जन के मन-मन में युगान्तरीय

चेतना का आलोक उत्पन्न करने में गंभीर हैं। उसके लिए कुछ करने की उत्कंठा जिनके भीतर है और जो उसे कार्यान्वित करने में अनिवार्य आवश्यकता की तरह प्रयोग में लाई जाने वाली वाक् सिद्धि का, सरस्वती साधना का अभ्यास करना चाहते हैं, ऐसे लोगों को यह भी ध्यान में रखना होगा कि उन्हें परिस्थितियों के अनुसार आधारों का अवलम्बन लेना पड़ेगा। अपनी योग्यता को जनता पर लाद नहीं सकेंगे, उन्हें जनता का स्तर देखते हुए अपने को ढालना पड़ेगा।

हर योग्यता के व्यक्ति अपनी क्षमता को अपने स्तर के लोगों के सम्मुख प्रकट करते रहते हैं। तदनुरूप प्रबन्ध भी हो जाता है। चिकित्सक, वैज्ञानिक, साहित्यकार आदि की अपने-अपने ढंग की ज्ञान गोष्ठियाँ होती रहती हैं और उनमें उन प्रसंगों में रुचि लेने वाले व्यक्ति इकट्ठे होते रहते हैं, किन्तु नवसृजन के लिए कोई वर्ग विशेष नहीं है। वर्ग है तो उसे एक शब्द में पहचाना जा सकता है—विचारशील, भावनाशील, उदारमना; ऐसे लोग हर वर्ग समुदाय में हो सकते हैं। शिक्षित, अशिक्षित, धनी, निर्धन, हिन्दू—मुसलमान आदि किसी भी वर्ग में उन्हें पाया जा सकता है। अपने मन के लोग कहाँ मिलें, जिनमें बीज बोया जाने पर अंकुरित होने की आशा बँधे, तो फिर इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ेगा कि असली भारत देहात में है। देहात अर्थात् ७० प्रतिशत भारत। यों शहरों में भी अशिक्षितों की कमी नहीं, पर देहात तो उसी वर्ग का अपना क्षेत्र है। देश में ७० प्रतिशत अशिक्षित हैं। इसका विभाजन किया जाये, तो शहर का हिस्सा कम और देहात का अधिक होगा। अनुमानतः शहरों में २० प्रतिशत और देहात में ८० प्रतिशत अशिक्षित माने जा सकते हैं। यही है असली भारत की तस्वीर। हमें इसी समुदाय की सेवा करनी है। उसी को अपना कार्यक्षेत्र मानकर चलना है।

शहरों से अपना कोई द्वेष नहीं। पर उस क्षेत्र में व्यस्तता, लिप्सा, चिन्ता और संकीर्णता का बाहुल्य देखते हुए रचनात्मक कार्यों में सहयोग मिलने की आशा कम ही रखी जा सकती है। फिर उस क्षेत्र पर इतने प्रकार के मत-मतान्तर हावी हैं कि खींचतान से दिग्भ्रान्त जैसी स्थिति बन गई है। राजनैतिक संस्थाओं को ही लें। उनका प्रोपेगण्डा बहुत धूमधाम से होता है और दूसरों के विरुद्ध निरन्तर आरोप-आक्षेपों की बौछार करते रहते हैं। प्रतिपादन इतने सशक्त होते हैं कि सामान्य जन किसी निष्कर्ष पर पहुँच नहीं पाते। वे या तो उपेक्षा बरतने लगे हैं या किसी विचार समुदाय के कट्टर अनुयायी बन गये हैं। उनमें भी परिवर्तन तो लाया जाना चाहिए, पर इसके लिए समर्थ तंत्र की आवश्यकता है। उसे मूर्धन्य लौग ही सम्भाल सकते हैं। युग शिल्पियों की प्रतिभा तथा सम्पन्नता इस स्तर की है नहीं कि शहरी जनता को आकर्षित एवं प्रेरित करने के लिए आवश्यक, किन्तु अत्यन्त मँहगे साधन जुटा सकें। बड़े प्रचार पंडाल के बिना शहरी जनता का प्रभावी सम्मेलन बुला सकना कठिन है। उन साधनों के लिए सुसम्पन्नों की थैलियाँ कैसे खुलें? वे अपने हाथ कैसे लगे? इस विवशता के कारण भी उन खट्टे अंगूरों को नमस्कार करके अपना रास्ता नापना ही उचित है। फिर मूल आवश्यकता भी तो यह कहती है कि शहरों में घुसपैठ की धक्का-मुक्की में पड़ने का कार्य दूसरों पर छोड़ कर हमें उपेक्षित देहातों की ओर मुड़ना और वहाँ डेरा डालना है। असली भारत दूसरे समाज सेवियों की दृष्टि में नहीं है। वहाँ साधन-सुविधा के अभाव में बड़े लोग नहीं पहुँच सकते या नहीं पहुँचना चाहते, तो उन्हीं का अनुकरण क्यों किया जाये। दूसरे मिशनरियों से भी कुछ क्यों न सीखा जाये, जिन्होंने न केवल भारत में, वरन् संसार के अन्य क्षेत्रों में अपना डेरा डाला है

और देहात के पिछड़े वर्ग को अपना कार्य क्षेत्र चुना है। वहाँ अशिक्षा, दरिद्रता, अस्वच्छता का बाहुल्य भले ही हो, पर दिग्भ्रान्ति ने अनास्था उत्पन्न नहीं की है। भावना की दृष्टि से इतना कुछ होना बहुत है। इस स्तर की मनोभूमि का सही ढंग से मर्मस्पर्श किया जाये, तो वहाँ प्रकाश और परिवर्तन की प्रक्रिया के फलित होने की अपेक्षाकृत अधिक आशा है। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए हममें से प्रत्येक को अपने सुनिश्चित कार्य क्षेत्र के बारे में निर्भ्रान्त रहना चाहिए और प्रयत्न यह करना चाहिए कि उस समुदाय में बौद्धिक आदान-प्रदान के लिए जो संभव है, उसी उपाय को अपनाया जाये। उनकी आवश्यकता को, परिस्थिति को प्रमुखता दी जाये। स्वयं उसके अनुरूप योग्यता उपार्जित करें। अपनी योग्यता उन पर थोपने का हठ न करें।

इस निष्कर्ष पर पहुँचने के उपरान्त प्रवचन शैली में कथानकों की भरमार करके सुबोध एवं लोकप्रिय स्तर का बनाने का प्रयत्न किया गया है। प्रज्ञापुराण का सृजन विशुद्ध रूप में इसी निमित्त हुआ है। स्लाइड प्रोजेक्टरों को भी महत्त्व इसी दृष्टि से दिया गया है कि दिव्य दर्शन कराते हुए उस क्षेत्र की भाषा में युगान्तरीय चेतना को गले उतारने का प्रयत्न किया जाये।

इस संदर्भ में एक पक्ष और भी ध्यान देने योग्य है, वह है—कला के साथ कीर्तन का जुड़ा होना। जहाँ कथा हो, वहाँ कीर्तन अवश्य हो। इस निर्धारण के अनुसार कथा-कीर्तन शब्द को अविच्छिन्न बना दिया गया है और दोनों का स्वरूप पृथक्-पृथक् होते हुए भी उन्हें एक ही शृंखला में गूँथ दिया गया है। इसे गद्य और पद्य का समन्वय कहना चाहिए। प्रवचन ही नहीं, संगीत भी आवश्यक है। यह इसलिए कि प्रवचन को गले उतारने पर प्रधानतया विचार

क्रान्ति का पथ प्रशस्त होता है। विचारों को विचारों से टकरा कर अनुपयुक्त चिंतन छोड़ने और विवेकपूर्ण औचित्य को अपनाने की प्रेरणा दी जाती है। यह आवश्यक है और अनिवार्य भी, पर एक और बात है, जिसे भुला नहीं दिया जाना चाहिए। वह है लोकमानस का भावनात्मक परिष्कार। विचारणा और भावना सहेलियाँ तो हैं, पर उनका अस्तित्व स्वतंत्र भी मानना पड़ेगा। भावना की शक्ति को समझा जाना चाहिए। वह विचारणा से भी अधिक समर्थ है। आदर्शवादी अनुगमन में तो विशुद्ध रूप से भावना की ही भूमिका रहती है। संवेदनाएँ ही त्याग-बलिदान की उमंगें उत्पन्न करती हैं। करुणा और सेवा का उद्गम भावना क्षेत्र के अंतराल में ही पाया जाता है। अनास्थाजन्य प्रस्तुत संकट का निराकरण श्रद्धासिक्त उमंगें उभारने से ही बन पड़ेगा। विचारवान् प्रज्ञा इसकी प्रारंभिक पृष्ठभूमि बनाती है। महामानवों, ऋषियों में अधिकांश भावनाशील थे। बुद्धिमान्, विज्ञान तो चतुरता के धनी ही पाये जाते हैं। वे कथनोपकथन में प्रवीण होते हैं। पर जब त्याग-बलिदान का, सत्साहस के प्रकटीकरण का समय आता है, तो वह बुद्धिमत्ता ही आड़े आ जाती है, जिसके सहारे बड़े-बड़े प्रतिपादन खड़े किये गये थे। यह आक्षेप बहुत हद तक सही है कि बुद्धिमानों से चतुरता, प्रतिभा भर की अपेक्षा करनी चाहिए। वे आदर्शवादिता को चरितार्थ करने वाली उदार सेवा-साधना से बचते-कतराते ही देखे गये हैं।

यहाँ विचारणा का महत्त्व नहीं घटाया जा रहा है कि उस तक सीमित रहने, उस पर निर्भर रहने से बात बनेगी नहीं। तात्पर्य यह है कि भावना क्षेत्र को उमँगाने के लिए भी हमें प्रयत्नशील रहना होगा। इसके लिए प्रतिपादनों में तर्क, तथ्य, प्रमाण, उदाहरणों का समावेश करके ही निश्चिन्त नहीं हो जाना चाहिए, वरन् एक कदम और आगे

बढ़कर भावनाओं के भण्डार अंतःकरण का अर्थ स्पर्श करने को महत्त्व देना चाहिए। हमारे प्रवचन विद्वत्तापूर्ण ही न हों, वरन् उनमें रुला देने की भी क्षमता हो। ऐसे आँसू उगाने चाहिए, जो करुणा एवं उदारता बनकर सेवा-साधना का क्षेत्र सँभाल सकें। आदर्शवादिता की खेती इन्हीं श्याम घटाओं से पनपती है। स्वाती बूँदों जैसा चमत्कार भाव भरी आर्द्रता ही उत्पन्न कर सकती है। हमारे प्रतिपादनों में इस संवेदना का समुचित समन्वय रहना चाहिए।

इसी प्रसंग में एक नया तथ्य सामने आता है—संगीत की शक्ति। कहना न होगा कि जहाँ तक भाव संवेदना उभारने का प्रश्न है, वहाँ तक प्रवचनों की तुलना में संगीत को कहीं अधिक शक्तिशाली पाया गया है। सूर, मीरा, चैतन्य आदि की संगीत साधना ने अपने समय में जो चमत्कार उत्पन्न किये, उन्हें भुलाया नहीं जा सकता। आज भी उनकी संवेदना को जब गीत वाद्य सहित उमँगया जाता है, तो लोग लहराने लगते हैं। दीपक राग बुझे दीपक जलाते थे। मेघ मल्हार गाने से वर्षा होती थी। वैसे उदाहरण अब देखने को नहीं मिलते और न इन दिनों बहेलियाँ हिरनों को पकड़ने के लिए वाद्य बजाकर उन्हें मंत्र मुग्ध करते हैं। सँपेरे ही साँपों को लहराते देखे जाते हैं। जो हो मनुष्य के भावना क्षेत्र तक प्रवेश पाने के लिए वक्तृता से भी एक कदम आगे बढ़कर संगीत-संवेदना का आश्रय लेना होगा। यही कारण है कि कथा के साथ कीर्तन शब्द को अविच्छिन्न किया गया है। गद्य के साध पद्य का गठबंधन करने से एक बड़ी अपूर्णता का समाधान निकलता है।

संगीत की तुलना में भावनात्मक क्षेत्र को तरंगित करने वाली शक्ति दूसरी नहीं। शास्त्रकारों ने उसकी महत्ता-महिमा शब्द ब्रह्म के समतुल्य ही नादब्रह्म की भी गाई है। देवर्षि नारद की वीणा, शंकर

का डमरु, कृष्ण की वंशी उनकी आंतरिक भाव अभिव्यक्तियों का प्रकटीकरण संभव बनाती हैं। नादयोग के द्वारा मिलने वाली सिद्धियों का वर्णन यहाँ प्रस्तुत नहीं किया जा रहा है, किन्तु उस तथ्य को तो समझना ही होगा कि नवसृजन की उमंगों का उद्भव भावना क्षेत्र से होगा और उसके लिए संगीत शक्ति को उपेक्षित नहीं रखा जा सकेगा। प्रवचन एवं लेखन से सामयिक आवश्यकता की पूर्ति न हो सकेगी। इस त्रिवेणी में गंगा-जमुना की लेखनी-वाणी की प्रमुखता भले ही रहे, पर वीणापाणि सरस्वती की तीसरी धारा का समावेश भी अनिवार्य-अपरिहार्य मानकर चलना होगा।

देहात के लिए संगीत की आवश्यकता एवं लोकप्रियता को प्रमुखता देनी होगी। वहाँ अभी भी अभिव्यक्तियाँ, भाषणों से नहीं गायनों से ही प्रकट की जाती हैं। विवाह, शादियों, तीज-त्यौहारों पर महिलाओं को गीत, मल्हार गाते सभी ने सुना है, इसके अतिरिक्त आल्हा, ढोला, रामायण-नौटंकी, चौबोला, लावनी, रसिया, बारहमासी आदि के रूप में गाये जाने वाले लोकगीतों की मंडलियाँ जुड़ती हैं। जो गा सकते हैं, अग्रिम पंक्ति में रहते हैं। शेष लोग मनोयोगपूर्वक सुनते और रात-रात भर जागते रस लेते देखे जाते हैं। लोकनृत्य समूचे भारत में सर्वत्र प्रचलित हैं। उनके अपने-अपने ढंग और स्वरूप हैं, किन्तु स्मरण रहे, वह संगीत की ही मूक अभिव्यक्ति है। गीत के साथ जो लय तरंगें उद्भूत होती हैं वे ही कंठ-ओष्ठ तक सीमित न रहकर हाथ-पैर, गरदन, आँख के चल अवयवों द्वारा थिरकन बनकर फूट पड़ती हैं। संगीत का समूची काया तथा मनःस्थान को तरंगित करने वाला स्वरूप ही नृत्य माना जाता है। एक्शन सोंग इसी की एक मध्यवर्ती अनुकृति है। कीर्तन में पाई हाने वाली भाव विभोर तन्मयता भी संगीत का ही विकसित एवं विस्तृत स्वरूप है।



स्वर, ताल और अंग संचालन की भाव विभोरता कितनी मादक होती है और उसकी आध्यात्मिक एवं भौतिक क्षेत्र में क्या-क्या उपलब्धियाँ हस्तगत होती हैं ? इसकी चर्चा विवेचना इन पंक्तियों में अभीष्ट नहीं। यहाँ तो इतना ही कहा जा रहा है कि नवयुग की जन जागरण प्रक्रिया में संगीत की उपेक्षा नहीं की जा सकती। उसकी उपयोगिता इस प्रयोजन के लिए उतनी ही है, जितनी कि प्रचार पक्ष में काम आने वाले भाषण-संभाषण, लेखन-पठन, आयोजन-आंदोलन आदि की। प्रत्येक वक्ता को यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि उसे संगत को साथ लेकर चलना है। प्रवचन के आदि में-अंत में या दोनों बार संगीत सहगान या कीर्तन का समावेश रखना चाहिए। वह वाद्य यंत्रों की सहायता से बन पड़े, तो आकर्षण और भी अधिक बढ़ जायेगा, अन्यथा बिना वादन का गायन भी काम दे सकता है। कथावाचक प्रायः ऐसा करते भी हैं। 'हरे राम हरे कृष्ण...., रघुपति राघव राजाराम...., हे कृष्ण हे कृष्ण-हरे मुरारे.....।' जैसी कितनी ही रामधुनें प्रख्यात हैं। आये दिन नई बनती और पुरानी विस्मृत होती रहती हैं। इन्हें एक बार वक्ता कहता है। दूसरी बार उपस्थित जन-समुदाय दुहराता है। इससे सबका ध्यान एकाग्र होता है। विशृंखलता, अस्त-व्यस्तता दूर होकर जागरूकता उत्पन्न होती है और कथन-श्रवण का उपक्रम ठीक प्रकार चल पड़ता है।

यह परम्परा का निर्वाह हुआ। बात इतने तक सीमित नहीं रहनी चाहिए। लोकमानस में अभिनव जागरण एवं उल्लास का समावेश करने के लिए सार्थक, प्रेरणाप्रद एवं भावनाएँ तरंगित करने वाले ऐसे गीतों की आवश्यकता है, जो युग चेतना को अग्रगामी बना सकें। ऐसे गीतों को ढूँढने, चयन करने की आवश्यकता न पड़ेगी।

उन्हें नये सिरे से लिखा जाना आरंभ कर दिया गया है और वे बड़ी संख्या में अगले ही दिनों उपलब्ध होने लगेंगे। नये सिरे से कहने का एक नया अभिप्राय है कि प्रज्ञा मिशन ने एक ध्वनि की मान्यता दी है। उसमें स्वर, ताल और थिरकन इन तीनों का समावेश है। उसकी तर्ज है-

माँ तेरे चरणों में हम शीश झुकाते हैं।  
 श्रद्धापूरित होकर दो अश्रु चढ़ाते हैं।  
 झंकार करो ऐसी सद्भाव उभर आये।  
 हुंकार भरो ऐसी दुर्भाव उखड़ जाये।  
 सन्मार्ग न छोड़ेंगे हम शपथ उठाते हैं।  
 माँ तेरे चरणों में....

इसी एक ध्वनि पर असंख्यों गीत लिखे जाने हैं। भिन्नताओं पर रोकथाम इसलिए लगाई गई है कि कवियों को उसी पर लिखने का अभ्यास पड़े। गायकों का गला एक ही प्रयोग पर निरन्तर अभ्यास करते-करते ठीक तरह सध जाये। वादकों के लिए इसमें सबसे अधिक सुगमता है। अनेक ध्वनियों पर वाद्य यंत्रों का अभ्यास करने के लिए स्वर शास्त्र की क्रमबद्ध शिक्षा चाहिए। अनेक सरगमें साधनी और याद करनी पड़ती हैं। स्वर-ताल की भिन्नताओं को समझना और उनके अंतर को अभ्यास में अपनाना पड़ता है, पर जब एक ही लय-ध्वनि पर सारा संगीत शास्त्र समाप्त होता है, तो फिर सारा झंझट ही मिटा। डमरु में कुछ ही बोल निकलते हैं। शंकरजी ने उतने में ही समूचे स्वर शास्त्र को केन्द्रित कर लिया, तो कोई कारण नहीं कि युग संगीत को एक ध्वनि पर केन्द्रित न किया जा सके। इससे गायकों को ही नहीं, वादकों को भी भारी सुविधा होगी। वे इस लय का अभ्यास बिना स्वर शास्त्र की सांगोपांग जानकारी प्राप्त किये

एक से दूसरे का अनुकरण करने की विद्या अपना कर देखते-देखते प्रवीणता प्राप्त कर सकेंगे। मात्र इशारे से ही एक साथी अपने दूसरे सहयोगी को अभ्यस्त कर दिया करेगा। कंठ से कंठ मिलाकर गाने भर से गीत क्रम पर गला सध जाया करेगा।

वाद्य यंत्रों में यों हारमोनियम, ढोलक, तबला अब सर्वत्र प्रचलित हैं। जहाँ तक एक ध्वनि का संबंध है, उन पर भी महीने-दो महीने के अभ्यास से काम चलाऊ ढर्रा लुढ़कने लग सकता है। महिलाएँ बिना कहीं संगीत शिक्षा पाये गीत-वादन का कामचलाऊ अभ्यास कर लेती हैं। फिर कोई कारण नहीं कि नियमित एक लय ताल पर सर्वसाधारण को अभ्यस्त न बनाया जा सके। प्रचारकों को एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाना पड़ता है, कभी पैदल, कभी साइकिल पर। यही है छोटे देहातां में आवश्यक सामान लेकर पहुँचने का साधन। ऐसी दशा में सभी बाजे साथ लेकर चलने का उपाय एक ही है कि हलके वाद्य यंत्र काम में लाये जायें। भावी प्रचार टोलियाँ दो-दो की होंगी और वे गाँव-गाँव नवयुग का अलख जगाने के लिए परिभ्रमण करेंगी। उनके झोले में ही वाद्य यंत्रों को बिठाना पड़ेगा। इसलिए वे ढपली, मंजीरा और घुँघरू ही हो सकते हैं। लागत कम, वजन कम, घेरा कम, अभ्यास कम और लाभ अधिक। इस उपाय-उपचार का अवलम्बन लेकर गीत और वाद्य दोनों का समन्वय हो सकता है और वक्तृता के समतुल्य ही विचारों की अभिव्यक्ति का जन जागरण का एक नया द्वार खुल सकता है।

प्रत्येक युग शिल्पी को कहा गया है कि उसे अपनी वाणी मुखर करनी चाहिए और जनसंपर्क क्षेत्र में उतर कर जन समर्थन और सहयोग उपलब्ध करने का प्रथम सोपान पूर्ण करना चाहिए।

आगे की महत्त्वपूर्ण प्रतिष्ठापनाओं का द्वार इसी शुभारंभ से खुलेगा। ठीक इसी प्रकार दूसरी बात यह भी कही जा रही है कि भाषण को ही समग्र न माना जाये, वरन् उसका अविच्छिन्न सहयोगी गायन को भी समान अवलम्बन बनाया जाये। वाणी के यह दोनों ही शृंगार हैं और अपने-अपने स्थान पर इन दोनों का ही समान उपयोग एवं महत्त्व है।

कथा प्रसंगों के साथ प्रवचन करने की शैली अत्यधिक सरल और सफल है। उसे शिक्षितों-अशिक्षितों में समान रूप से प्रयुक्त किया जा सकता है और चिर काल तक एक ही स्थान पर नये-नये संदर्भ सुनाते रहा जा सकता है। दार्शनिक भाषणों की तरह इस प्रक्रिया को अपनाने पर तरकस कभी खाली नहीं होता और शब्द वेधी बाण निशाना बेधने के बाद फिर लौट-लौट कर तुणीर को रिक्त नहीं होने देता। प्रज्ञापुराण के बीस खण्ड इसी दृष्टि से सृजे जा रहे हैं कि युग प्रवक्ताओं को अनवरत अमृतवर्षा करते हुए भण्डार चुक जाने की चिन्ता-आशंका न करनी पड़े। इसी का समान्तर सहयोगी पूरक पथ युग गायन का है। इसे भी समान महत्त्व मिलना चाहिए और सीखने-अपनाने में समान उत्साह रहना चाहिए।

शान्तिकुञ्ज, हरिद्वार में एक-एक महीने के युग शिल्पी सत्रों में भाषण और गायन के दोनों शिक्षणों की दो कक्षाएँ साथ-साथ चलती हैं। जिन्हें एक महीना ठहरना है, वे दोनों में से एक का अभ्यास कर सकते हैं। दोनों में प्रवीणता एक साथ इतनी थोड़ी अवधि में नहीं हो सकती। जिन्हें दोनों सीखने हैं उन्हें दो महीने ठहरना पड़ेगा। इतने पर भी यह शर्त रहेगी ही कि छात्रों में इन कला कौशलों की मौलिक प्रतिभा तो रहनी ही चाहिए। जिनका संकोच ही

न टूटा, उत्साह ही न उमँगा, वे भाषण कला में प्रवीणता प्राप्त न कर सकेंगे। मुँह खुलना बात दूसरी है और प्रवीणता पाना दूसरी। आजकल सर्वत्र एवन की माँग है, इसे तो सभी जानते हैं। संगत के बारे में भी यही बात है। गले की बनावट और ताल-स्वर को समझने-अपनाने की पकड़ तो अभ्यासी में होनी ही चाहिए, अन्यथा अध्यापक के लाख प्रयत्न करने पर भी आशाजनक प्रगति न हो सकेगी। फिर भी न कुछ से कुछ होना अच्छा है। शिक्षण साधन और अभ्यास के अभाव में असंख्यों को आगे बढ़ने का अवसर ही नहीं मिलता। वह कठिनाई तो निश्चित रूप से इन सत्रों में सम्मिलित होने से दूर हो सकती है।

आवश्यक नहीं कि जो सीखना है, सिखाया जाना है, उसके लिए शान्तिकुंज सत्रों में सम्मिलित होना है। यह कार्य अभ्यस्त लोग अपने साथियों को अभ्यास कराने का उत्तरदायित्व अपने कंधों पर वहन कर भी पूरा कर सकते हैं। प्रशिक्षित लोग शान्तिकुंज की शैली पर अपने-अपने यहाँ भी भाषण कला के अभ्यास की कक्षाएँ चलाते रह सकते हैं और अनेकों को अभ्यस्त एवं प्रवीण बना सकते हैं। यही बात संगीत के संबंध में भी है। जिन्हें पूर्वाभ्यास है, वे निर्धारित लय-ध्वनि का घर बैठे भी अभ्यास कर सकते हैं। नई निर्धारित ध्वनि पर बनने वाले गीतों को मँगाते-सीखते और सिखाते रह सकते हैं। सुव्यवस्थित विद्यालयों में तो हारमोनियम, ढोलक, तबला भी सिखाया जा सकता है, परन्तु जहाँ उतने साधन न हों, समय का अभाव हो, जिन्हें चलते फिरते प्रचार करना हो, उनके लिए ढपली, मंजीरा, घुँघरू इन स्वल्प व्यय साध्य, स्वल्प समय साध्य वाद्य यंत्रों को बजाना और अभ्यस्त ध्वनियों का निरन्तर प्रयोग करते हुए नवीनता तथा प्रेरणा उभारते रहने का अवसर

मिल सकता है ।

चलते-फिरते गायन-वादन में श्रोता तलाशने की कहीं भी आवश्यकता नहीं । रेल में, बस में, मुसाफिर खाने में, हाट बाजार में, धर्मशाला में, प्याऊ, घर, घाट, मंदिर, चौराहे, पार्क के आसपास कहीं भी बैठकर दो व्यक्ति मिल-जुलकर ढपली, घुँघरू बजाते हुए मस्ती और प्रेरणा से भरे पूरे गीत गाने लगें, तो श्रोताओं की भीड़ बिना किसी पूर्व सूचना या आमंत्रण के देखते-देखते जमा हो सकती है । इस सभा-समारोह पर किसी का बंधन-प्रतिबंध नहीं । जब इच्छा हुई प्रचार आयोजन आरंभ कर दिया और जब बंद करने की आवश्यकता अनुभव हुई, तभी दोनों बाजे थैली में बंद किये, पल्ला झाड़ा और उठ खड़े हुए । न स्वागत की प्रतीक्षा करनी होती है और न विदाई का धन्यवाद लेने की । ढपली, घुँघरू वाला सम्मेलन समारोह ऐसा है, जिसे कथा-प्रवचन से भी सरल कहा जा सकता है । इसमें शक्ति का व्यय कम से कम, झंझट कम से कम तथा सरलता-सुविधा अधिक से अधिक है । देहातों के लिए तो यह प्रक्रिया हर दृष्टि से सरल, सफल मानी जायेगी । गीत-वाद्य के साथ-साथ में थोड़ी-थोड़ी व्याख्या-विवेचना, इतने भर से उद्देश्य भली प्रकार पूरा हो जाता है, जिसकी पूर्ति के लिए वक्तृत्व कला सीखने-सिखाने की सुव्यवस्थित योजना बनायी गयी है ।

अगले दिनों साइकिलों पर तीर्थ यात्रा का, भारत भ्रमण का आंदोलन चल पड़ेगा । युग शिल्पी बादलों की तरह खेत-खेत पर बरसने और सूखे भूखण्डों पर हरीतिमा लहलहाने का संकल्प लेकर निकलेंगे । गाँव-गाँव, घर-घर अलख जगाने की पुरातन संत परम्परा को पुनर्जीवन प्रदान किया जा रहा है । अपने गाँव-घर से हरिद्वार,

हरिद्वार से दूसरे रास्ते से घर पहुँचने की तीर्थ यात्रा को नये उत्साह, नयी उमंगों और नयी योजनाओं के साथ कार्यान्वित किया जा रहा है। उसमें प्रज्ञा पुराण की कथा प्रक्रिया उतनी सफल सिद्ध न होगी, जितनी कि ढपली-घुँघरू के सहारे युग संगीत सुनाने और देखते-देखते श्रोताओं की भीड़ जमा कर लेने की।

कथा प्रवचन का अपना महत्त्व है और युग संगीत का अपना। हमें दोनों को ही महत्त्व देना चाहिए और आवश्यकतानुसार दोनों का ही प्रयोग करना चाहिए। कथा-कीर्तन की जोड़ी इसलिए बनाई गयी है कि मुखरता के दोनों माध्यमों से अभ्यास साथ-साथ चलता रहे। अभिरुचि तथा प्रतिष्ठा को नहीं, समय की माँग और लक्ष्य की पूर्ति को प्रमुखता देनी होगी।



# हमारी युग निर्माण योजना

गायत्री उपासना के रूप में आत्मकल्याण वाली प्रथम कक्षा को आगे बढ़ाकर १९६२ में समस्त विश्व के-युग के नव निर्माण की योजना आराध्य सत्ता पं० श्रीराम शर्मा आचार्य जी द्वारा प्रस्तुत की। इस युग निर्माण योजना का उद्देश्य था-व्यक्ति निर्माण, परिवार निर्माण, समाज निर्माण। मानव में देवत्व का उदय एवं धरती पर स्वर्ग का अवतरण। चिंतन, चरित्र एवं व्यवहार में बदलाव लाने के लिए बौद्धिक क्रान्ति, नैतिक क्रान्ति एवं सामाजिक क्रान्ति। इन सबके माध्यम से जनमानस का भावनात्मक परिष्कार। माध्यम ज्ञानयज्ञ एवं धर्मतंत्र से लोकशिक्षण।

स्वस्थ शरीर, स्वच्छ मन एवं सभ्य समाज के नवनिर्माण को युग निर्माण योजना की धुरी बनाया गया है। दुर्व्यसनों से मुक्त-संयमी जीवन जीने वाले ही नीरोगता का वरदान पाते हैं। अस्वच्छता निवारण एवं आहार में क्रान्ति कर देश-काल की परिस्थितियों के अनुरूप कैसे शरीर स्वस्थ रहे, इसके सूत्र युगऋषि ने दिये हैं। स्वच्छ-निर्मल मन आज की सबसे बड़ी आवश्यकता है। कुण्ठाओं, संत्रास, संक्षोभ, विक्षोभों से मुक्त मन कहीं तनावग्रस्त नहीं होता। ईर्ष्या, द्वेष, मनोविकारों से मुक्त मन ही कुछ श्रेष्ठ-विधेयात्मक सोच सकता है। सभ्य-सुसंस्कृत समाज ही सशक्त प्रजातंत्र का मेरुदण्ड है। बर्बर प्रचलन-अंधविश्वास-मूढ़मान्यताएँ-कुरीतियाँ जब तक समाज से हटेंगी नहीं, तब तक राष्ट्र के विकसित प्रगतिशील स्थिति में पहुँचने की संभावना भी नहीं है। तीनों ही स्तम्भ मजबूत होने पर एक सशक्त-अखण्ड-प्रगतिशील राष्ट्र ही नहीं-“वसुधैव कुटुम्बकम्” की धुरी पर टिके विश्व समाज-नये युग की आधारशिला रखते हैं।

अध्यात्म ही आज के इस युग में जो अज्ञान, अभाव व अशक्ति से पीड़ित हैं, सभी समस्याओं का समाधान देता है। अध्यात्म अर्थात् भाव संवेदना का जागरण-जीवन जीने की कला-जीवन साधना-स्वयं को ईश्वरीय सत्ता के प्रति जिम्मेदार बनाना। युग निर्माण योजना की धुरी यही परिष्कृत-प्रगतिशील अध्यात्म है। ज्ञानयज्ञ के माध्यम से विचारक्रान्ति उसका मूल है। उल्टे को उलटकर सीधा करना ही युग परिवर्तन है-युग निर्माण है। इस योजना को गायत्री परिजन ‘हम बदलेंगे-युग बदलेगा’, ‘हम सुधरेगे-युग सुधरेगा’-इन तथ्यों को आधार बनाकर क्रियान्वित करते हैं। समयदान और अंशदान द्वारा सभी कार्यक्रमों को पोषण दिया जाता है। युग निर्माण योजना दैवी आकांक्षा को मूर्त रूप देने अवतरित एक संघशक्ति का आंदोलन है, जिसमें जन-जन की भागीदारी अपेक्षित है।



# नवयुग का संविधान-घोषणा पत्र

- हम ईश्वर को सर्वव्यापी, न्यायकारी मानकर उसके अनुशासन को अपने जीवन में उतारेंगे।
- शरीर को भगवान् का मंदिर समझकर आत्म-संयम और नियमितता द्वारा आरोग्य की रक्षा करेंगे।
- मन को कुविचारों और दुर्भावनाओं से बचाये रखने के लिये स्वाध्याय एवं सत्संग की व्यवस्था रखे रहेंगे।
- इन्द्रिय संयम, अर्थ संयम, समय संयम और विचार संयम का सतत अभ्यास करेंगे।
- अपने आपको समाज का एक अभिन्न अंग मानेंगे और सबके हित में अपना हित समझेंगे।
- मर्यादाओं को पालेंगे, वर्जनाओं से बचेंगे, नागरिक कर्तव्यों का पालन करेंगे और समाजनिष्ठ बने रहेंगे।
- समझदारी, ईमानदारी, जिम्मेदारी और बहादुरी को जीवन का एक अविच्छिन्न अंग मानेंगे।
- चारों ओर मधुरता, स्वच्छता, सादगी एवं सज्जनता का वातावरण उत्पन्न करेंगे।
- अनीति से प्राप्त सफलता की अपेक्षा नीति पर चलते हुए असफलता को शिरोधार्य करेंगे।
- मनुष्य के मूल्यांकन की कसौटी उसकी सफलताओं, योग्यताओं एवं विभूतियों को नहीं, उसके सद्बिचारों और सत्कर्मों को मानेंगे।
- दूसरों के साथ वह व्यवहार नहीं करेंगे, जो हमें अपने लिए पसन्द नहीं।
- नर-नारी परस्पर पवित्र दृष्टि रखेंगे।
- संसार में सत्प्रवृत्तियों के पुण्य प्रसार के लिये अपने समय, प्रभाव, ज्ञान, पुरुषार्थ एवं धन का एक अंश नियमित रूप से लगाते रहेंगे।
- परम्पराओं की तुलना में विवेक को महत्त्व देंगे।
- सज्जनों को संगठित करने, अनीति से लोहा लेने और नव-सृजन की गतिविधियों में पूरी रुचि लेंगे।
- राष्ट्रीय एकता एवं समता के प्रति निष्ठावान रहेंगे। जाति, लिंग, भाषा, प्रान्त, सम्प्रदाय आदि के कारण परस्पर कोई भेदभाव नहीं बरतेंगे।
- मनुष्य अपने भाग्य का निर्माता आप है, इस विश्वास के आधार पर हमारी मान्यता है कि हम उत्कृष्ट बनेंगे और दूसरों को श्रेष्ठ बनायेंगे, तो युग अवश्य बदलेगा।
- 'हम बदलेंगे, युग बदलेगा' 'हम सुधरेंगे, युग सुधरेगा', इस तथ्य पर हमारा परिपूर्ण विश्वास है।